भाषा परिवार और सभ्यता का नस्ली सिद्धांत

अभय कुमार दुबे

ऑगस्ट श्लीख़र द्वारा बनाया गया भारोपीय भाषा परिवार का वृक्ष

अठारहवीं से लेकर उन्नीसवीं सदी के दौरान युरोप के बौद्धिक मानस पर धर्म, समाज, राष्ट्र और नस्ल की श्रेष्ठता को भाषाओं की श्रेष्ठता के आईने में देखने का रुझान हावी था। इस अवधि के युरोपीय बुद्धिजीवी इनसे संबंधित विचारों और तात्पर्यों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों की तरह सम्बोधित करने के बजाय मिले-जुले ढंग से इस्तेमाल करते थे। 1770 में जर्मन दार्शनिक योगान गोटफ्रीड हर्डर से लेकर 1862 में लंदन में सक्रिय फ्रीड्रिख़ मैक्स मुलर तक विद्वानों का लम्बा सिलसिला इस रवैये का साफ़ तौर पर मुज़ाहिरा करता है। ये लोग भाषा में 'मानवीय इतिहास की प्रगति' और युरोपियन 'नस्ल के सम्पूर्ण इतिहास का जीवंत और बोलता हुआ' साक्ष्य देख रहे थे। युरोपीय भाषाओं को ईश्वर-प्रदत्त भाषा (जिसे जन्नत में हज़रत आदम बोलते थे) की वंशावली का स्वाभाविक अंग बताया जा रहा था। धरती पर ये भाषाएँ ग्रीक-लैटिन-हिब्रू के भाषा परिवार की प्रमुख शाखाओं के रूप में पेश की जा रही थीं। भाषा, भूगर्भशास्त्र, राष्ट्र और युरो-क्रिश्चियनिटी[1] के पाठ इस तरह आपस में गुँथे हुए थे कि एक तरफ़ तो फ़िलोलॉजी (ऐतिहासिक भाषाशास्त्र) और थियोलॉजी (धर्मशास्त्र) को अलग-अलग करके देखा जाना मुश्किल था; दूसरी ओर भाषा-अध्ययन की शब्दावली में 'फ़ॉसिल', 'स्केलटन', 'बोन', 'रॉकफ़ार्मेशन' जैसे पदों की भरमार हो गयी थी।[2]

उपनिवेशवाद के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए यह अवधि तीन परस्पर संबंधित आयामों के कारण बेहद महत्त्वपूर्ण थी। इनमें पहला आयाम था भाषा-अध्ययन का, जो उन दिनों युरोप में नयी करवट ले रहा था। पुरानी फ़िलोलॉजी[3] की जगह नयी फ़िलोलॉजी अपने क़दम जमा रही थी। हांस आर्सलेफ़ के शब्दों में कहें तो पुरानी फ़िलोलॉजी मानसिक श्रेणियों के संदर्भ में भाषा पर दार्शनिक दृष्टि से चिंतन करते हुए व्युत्पत्तिशास्त्रीय अटकलों का इस्तेमाल करती थी। लेकिन, नयी फ़िलोलॉजी इस रवैये का खण्डन करते हुए इतिहास-केंद्रित होने के पक्ष में थी। उसके पैरोकारों का दावा था कि वे तथ्य और प्रमाण जुटाने पर यक़ीन करते हैं। लेकिन, ये तथ्य और प्रमाण क्यों जुटाए जाते थे? हारुको मोमा के अनुसार फ़िलोलॉजी के बौद्धिक अनुशासन के तहत संस्कृत और फ़ारसी जैसी ग़ैर-युरोपीय भाषाओं पर भी ध्यान दिया जाता था, लेकिन उस उद्यम का मुख्य उद्देश्य युरोपीय अस्मिता की भाषाई, सांस्कृतिक और नस्ली वंशावली पर प्रकाश

[1] युरो-क्रिश्चियनिटी अर्थात ईसाई धर्मशास्त्रों का युरोपीय अर्थग्रहण, एक ऐसा पाठ जिस पर ग्रीक-दर्शन, विशेषकर प्लेटॉनिक फ़िलॉसफ़ी, का गहरा असर है. युरो-क्रिश्चियनिटी और ईसाइयत के मूल आध्यात्मिक संदेश के बीच का अंतर इसी लेख में आगे चल कर स्पष्ट किया गया है.

[2] देखें, टोनी क्राउली (2003), (विशेष रूप से देखें दूसरा अध्याय, 'आर्कबिशप ट्रेंचिज़ थियरी ऑफ़ लेंग्वेज : द ट्रैक्टेटस थियोलॉजिको-पॉलिकस'). धार्मिक विमर्श किस तरह भाषाई विमर्श की चालक शक्ति था, इसके संक्षिप्त विवरण के लिए देखें, जूली टेटेल ऐंडरसन और फ़िलिप एम. कार्टर (2006) : 392-396. इसके अलावा देखें, गैब्रियाला ए. वर्नोनेली (2015) : 108-134.

[3] एक ज्ञानानुशासन के तौर पर युरोप में फ़िलोलॉजी की कोई ख़ास औक़ात नहीं थी. पुरानी शैली के फ़िलोलॉजिस्टों के लिए अपनी विशेषज्ञता के दम पर रोज़ी-रोटी कमाना भी मुश्किल था. नयी फ़िलोलॉजी के आगमन के बाद ही बौद्धिक बाज़ार में इन लोगों की साख बननी शुरू हुई. देखें, हारुको मोमा (1999).

डालना ही होता था।[4] दूसरा आयाम था साम्राज्यिक औचित्य के केंद्र में आर्य–श्रेष्ठता का नया तर्क स्थापित करना। इसी आधार पर उपनिवेशितों के वजूद पर भी आर्य या अनार्य की छवियाँ प्रक्षेपित की जा रही थीं। नव–प्राच्यवाद[5] और नस्ल के आपसी संबंधों के अध्येता टोनी बैलेंटाइन के अनुसार आर्य–श्रेष्ठता का विचार साम्राज्य की संस्कृति के दायरे के भीतर इस क़दर अहम हो गया था कि अंग्रेज़ उसी के आईने में उपनिवेशित समाजों के अतीत का विश्लेषण करते थे, और उसी के ज़रिये स्वयं अपने वर्तमान का। आर्य की श्रेणी के हिसाब से ही मूल्य–निर्धारण किया जाता था। मसलन, इस दौरान साम्राज्य को अनौपचारिक रूप से 'ऊर्जावान' आर्यों (इस श्रेणी में अंग्रेज़ ख़ुद को रखते थे), गिरावट के शिकार हो चुके आर्य समुदायों (जैसे, भारत जो नव–प्राच्यवादियों की निगाह में एक स्वर्णिम आर्य अतीत का मालिक था, लेकिन उसके बाद आये लम्बे अंधकार युग के कारण अंग्रेज़ों के हाथों अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रहा था) और पिछड़े हुए ग़ैर–आर्य उपनिवेशों (जिनमें अपने आर्य शासकों के सम्पर्क और प्रेरणा के ज़रिये कुछ दमख़म आ रही थी) में बाँट कर देखना एक आम बात थी।[6] यह श्रेणीकरण एक ऐसे विमर्शी उद्यम का परिणाम था, जो कमोबेश स्थायी साबित हुआ। बावजूद इसके कि विद्वानों के बीच इसके खण्डन का सिलसिला कोई पौने दो सौ साल से जारी है, इस विमर्श का प्रभाव आज तक दुनिया के कई सांस्कृतिक–राजनीतिक क्षेत्रों में लोगों, समुदायों, संस्कृतियों और भाषाओं की आत्म–छवि तय करता है। तीसरा पहलू यह था कि युरोपीय विद्वान *ओल्ड टेस्टामेंट* के 'जेनेसिस' नामक अध्याय में दर्ज सृष्टि–रचना, मानवीय इतिहास के विकास–क्रम और उसमें भाषा की भूमिका का औचित्य–प्रतिपादन करने के उद्यम में लगे हुए थे। 'जेनेसिस' में लिखे हुए एक–एक शब्द को सही प्रमाणित करने की होड़ मची हुई थी। प्राच्य–अध्ययन के संदर्भ में इसे 'बिब्लिकिल ओरिएंटलिज़म' की संज्ञा दी गयी है।[7] चूँकि इस *बाइबिल*–प्रदत्त इतिहास के केंद्र में भाषा थी, इसलिए ज़्यादातर फ़िलोलॅजिस्ट और भाषा–विज्ञानी ईसाई धर्म–प्रतिष्ठान से ही निकलते थे। मार्क्सवादी भाषा–चिंतक वी.आई. वोलोसिनोव की वह टिप्पणी इस संबंध में उद्धृत करने योग्य है जिसमें वे कहते हैं कि 'पहले फ़िलोलॅजिस्ट और पहले भाषा–विज्ञानी हमेशा और हर जगह पादरी ही होते थे।'[8]

दरअसल, यही हैं वे तीन अंतरगुम्फित पहलू (नयी फ़िलोलॅजी, आर्य श्रेष्ठता का सिद्धांत और *बाइबिल*–प्रदत्त भाषा संबंधी आग्रह) जिनके ज़रिये उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा आज तक अपनी उत्तरजीविता प्राप्त कर रही है। हमारे लिए केंद्रीय महत्त्व की बात यह है कि इस विचारधारा के इतिहास का यह बुनियादी प्रकरण भारत की ज़मीन पर घटा था। इसके आधार पर होने वाली विमर्श–निर्मिति और उसकी व्यावहारिक निष्पत्तियाँ आज तक भारतीय राजनीति में सोचने–विचारने के तौर–तरीक़ों को प्रभावित कर रही हैं। कलकत्ता और मद्रास में क्रमशः घटे इस घटना–क्रम की

---

[4] डेनिश भाषाशास्त्री हांस आर्सलेफ़ युरोप, विशेषकर इंग्लैंड, में भाषा–अध्ययन के सर्वश्रेष्ठ विद्वान माने जाते हैं. देखें, हांस आर्सलेफ़ (1967), (विशेष तौर पर देखें इसका अध्याय 'सर विलियम जोंस ऐंड न्यू फ़िलोलॅजी'), और हारुको मोमा (1999), वही.

[5] मोटे तौर पर प्राच्यवाद और नव–प्राच्यवाद के बीच अंतर इस प्रकार समझा जा सकता है— प्राच्यवाद का मतलब है उन यात्रियों और मिशनरी विद्वानों की भारत संबंधी रचनाएँ जिन्हें भारत की भाषाएँ, ख़ासकर संस्कृत, फ़ारसी और हिंदुस्तानी, नहीं आती थी. नव–प्राच्यवाद की संज्ञा वारेन हेस्टिंग्ज़ की सरपरस्ती में रचे गये प्राच्यवादी साहित्य को दी गयी. इसे अधिक प्रामाणिक माना गया, क्योंकि इसकी विद्वत्मण्डली ने भारतीय पण्डितों की मदद से भारतीय भाषाएँ सीख ली थीं. इन दोनों प्राच्यवादों के अंतर के बारे में मैंने अन्यत्र विस्तार से चर्चा की है. नव–प्राच्यवाद या 'न्यू–ओरिएंटलिज़म' का पद थॉमस ट्राउटमान द्वारा ईजाद किया गया है. बाद में और भी विद्वानों (जैसे, आलोक के. मुखर्जी (2009), ने इसका इस्तेमाल किया है. टोनी बैलेंटाइन (2002) ने इसके लिए 'कम्पनी–ओरिएंटलिज़म' अभिव्यक्ति का इस्तेमाल किया है.

[6] देखें, टोनी बैलेंटाइन (2002) : 3–4.

[7] देखें, एलुन डेविड (1996).

[8] विश्व ईसाई प्रतिष्ठान और भाषा–विज्ञान के संबंधों पर विशद अध्ययन हुआ है. देखें, जोसेफ़ एरिंगटन (2008); और टोनी क्राउली (2003), पूर्वोद्धृत.

जाँच के दौरान साफ़ हो जाता है कि इस प्रकरण में उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के तक़रीबन सभी आयाम मिलजुल कर अपना संयुक्त प्रभाव पैदा कर रहे थे। इसमें ग्रीको-रोमन विचार से प्राप्त भाषाई स्वजाति-उत्कृष्टता (आर्यभाषा के रूप में संस्कृत की अपरिवर्तनशील और सर्वोच्च श्रेष्ठता) और युरो-क्रिश्चियनिटी द्वारा किये गये बिब्लिकल चिंतन से हासिल भाषाओं के वंशवृक्ष (भारोपीय भाषा परिवार, द्रविड़ भाषा परिवार और आस्त्रिक भाषा परिवार) मौजूद दिखते हैं। लैटिन और ग्रीक के साथ संस्कृत की वंशानुगत एकता और एक आदिभाषा को सभी भाषाओं की जननी मानने का आग्रह (संस्कृत को सभी भारतीय भाषाओं की माँ क़रार देना, और फिर बाद में एक आदि द्रविड़ भाषा से दक्षिण भारत की भाषाओं की उत्पत्ति मानना) दिखाई पड़ता है। विजेता समझे जाने वाले आर्यों और मूलवासी द्रविड़ों के बीच प्रजातिमूलक हिंसक टकराव की परिकल्पना (ऋग्वेद और पुराणों के नस्ली पाठ के माध्यम से) मिलती है। *बाइबिल* में दर्ज मानवता के इतिहास के प्रारूप को अक्षरश: सही साबित करने के लिए वेदों-पुराणों के पात्रों के साथ बिब्लिकल किरदारों का सादृश्य स्थापित किया जाता है। नस्ल आधारित नृजाति-विवरण के औज़ारों से भारत की जाति-व्यवस्था को मुख्य तौर पर प्रजातिमूलक संरचना घोषित किया जाता है। भाषा को नस्ल और नस्ल को राष्ट्र के साथ जोड़ कर जितनी भाषाएँ उतने ही राष्ट्र की अवधारणा का प्रतिपादन होता हुआ दिखाई देता है।

यह एक ऐसी विस्तृत और जटिल कहानी है जिसकी परतें खोल कर उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के दूरगामी प्रभावों का एक अंदाज़ा लगाया जा सकता है। उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के विकास के इस महत्त्वपूर्ण पड़ाव की चर्चा के एक सिरे पर 1783 का वर्ष है जब विलियम जोंस ने एक शीर्ष न्यायाधीश के रूप में कलकत्ता की धरती पर क़दम रखा। अगले साल उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की, और 1786 में एशियाटिक सोसाइटी के मंच से अपने तीसरे वार्षिकी-व्याख्यान में भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा का शिलान्यास किया। इसके दूसरे सिरे पर 1912 है जब मैक्डोनाल्ड और कीथ ने वैदिक इंडेक्स का प्रकाशन किया। लेकिन, इसकी पृष्ठभूमि ही नहीं, बल्कि उसकी अग्रभूमि पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना ज़रूरी है। बिना इसके न तो भाषा परिवारों की अवधारणा के उद्‌गम की शिनाख़्त हो पाएगी, न ही यह पता लग पाएगा कि यह अवधारणा किस तरह भाषा-अध्ययन के क्षेत्र को आज तक संचालित कर रही है।

भारत 190 वर्ष तक अंग्रेज़ों का उपनिवेश रहा है। क्या केवल यह तथ्य अनुमान लगाने के लिए काफ़ी नहीं है कि यहाँ के विद्वानों ने भी न केवल उपनिवेशवाद के भारतीय प्रसंग के गहन अध्ययन किये होंगे, बल्कि अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के उपनिवेशन पर एक नज़र फेंकी होगी। इस लिहाज़ से यहाँ भारतीय विद्वानों द्वारा उपनिवेशवाद की आलोचना करने वाले विमर्श के बारे में भी कुछ कहना ज़रूरी है। आख़िरकार इस लेख के केंद्र में वही विलियम जोंस, उनके अनुयायी और वही एशियाटिक सोसाइटी है जिसने औपनिवेशिक इंडोलॅजी (भारत विद्या) की आधारशिला तैयार की थी। भारतीय विद्वान इंडोलॅजी से जूझते तो नज़र आते हैं, लेकिन अंतत: वे उससे सम्पूर्ण संबंध-विच्छेद नहीं कर पाते। इसकी सबसे बड़ी मिसाल स्वयं डी.डी. कोसम्बी हैं, जो अन्यथा बेहद कुशाग्र और मौलिक थे।[9] अस्सी के दशक में आशिस नंदी के नेतृत्व में उपनिवेशवाद की आलोचना करने वाला जो विमर्श सामने आया, उसकी सबसे बड़ी सीमा यह थी कि फ्रांज़ फ़ानो से प्रभावित होने और रचनात्मक साहित्य को अपनी सामग्री बनाने के बावजूद उसने स्वयं को भाषा के प्रश्न से दूर रखना

[9] कोसम्बी के इस पहलू पर चर्चा के लिए देखें, ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (2002) द्वारा लिखित भूमिका (द *ऑक्सफ़र्ड इंडिया कोसम्बी : कम्बाइंड मेथड्स इन इंडोलॅजी ऐंड अदर राइटिंग्ज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली). एक संक्षिप्त टिप्पणी के लिए देखें, सी.एन. सुब्रह्मण्यम का लेख, 'डी.डी. कोसम्बी ऐंड द एम्बीगुअस ट्रांज़ीशंस फ्रॉम इंडोलॅजी', देखें, https://www.revolutionarydemocracy.org/rdv13n2/kosambi.htm.

ही मुनासिब समझा। उपनिवेशन और भाषा के रिश्ते पर रणजीत गुहा और पार्थ चटर्जी ज़रूर कुछ अंतर्दृष्टियाँ मुहैया कराते हैं। अन्यथा, भारतीय विद्वानों ने इस विषय में तुलनात्मक दृष्टि से बर्नार्ड कॉन के अवलोकनों के समकक्ष भी काम नहीं किया है। यह ज़रूर है कि शिक्षा और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में काम कर रहे कुछ विद्वानों ने इस बारे में कुछ विस्तार से विमर्श किया है। लेकिन, गौरी विश्वनाथन, संजय सेठ, आलोक मुखर्जी, तेजस्विनी निरंजना और ज्योत्स्ना सिंह जैसी चमकदार उपस्थितियाँ वहाँ भी केवल अपवादस्वरूप ही दिखाई पड़ती हैं।[10] जहाँ तक मेरी नज़र गयी है, केवल हिंदी के कुछ भाषा-चिंतकों (जैसे, रामविलास शर्मा और भगवान सिंह) को छोड़ कर भारोपीय भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार की विमर्शी राजनीति पर निगाह डालने की जहमत किसी ने नहीं उठाई है। एक तरह से भारतीय विमर्शकारों ने भाषा परिवारों की इस बौद्धिक राजनीति को थमाए गये ज्ञान की तरह आत्मसात् कर लिया है।

मुख्य लेख शुरू करने से पहले मैं ग्लोबल स्तर पर विकसित हुई उस विद्वत्ता को रेखांकित करना चाहता हूँ जो इस अध्ययन के आधार में है। पिछले चालीस साल में विकसित हुई यह अनूठी विद्वत्ता उपनिवेशवाद और भाषा के आपसी संबंधों की गहराई में जाती है। वाल्टर मिग्नोलो के मुताबिक़ पचास के दशक में उपनिवेशवाद की आलोचना इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और नृजाति-विज्ञान में दिलचस्पी रखने वाले विद्वानों द्वारा की जाती थी। यहाँ तक कि साठ के दशक के मध्य में जब मिशेल फ़ूको ने भाषा और विमर्श-रचना के सामाजिक-ऐतिहासिक महत्त्व पर अपनी उँगली रखी, उस समय भी भाषाओं के उपनिवेशन का विषय समाज-विज्ञान के लिए मुद्दा नहीं बन पाया था। इसी दौर में फ्रांज़ फ़ानो ने अपने प्रभावशाली विमर्श में भाषाई उपनिवेशन के पहलुओं को केंद्रस्थ किया, लेकिन विचारों की दुनिया में यह आयाम अस्सी के दशक से ही संसाधित होना शुरू हुआ। इसमें पहल अफ़्रीकी और लातीनी अमेरिकी विद्वानों ने ली, और फिर बाद में कांटिनेंटल युरोप व संयुक्त राज्य अमेरिका में सक्रिय भाषाशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों और संस्कृति-चिंतकों ने इस सिलसिले को सुव्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ाया। इन लोगों ने 'राष्ट्रवाद के नेतृत्व में चलने वाले उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष' या 'साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष' के परिप्रेक्ष्य की सीमाओं को लाँघ कर औपनिवेशिकता की उत्तर-जीविता और युरो-केंद्रीयता की निरंतरता से जूझते हुए एक ज्ञानमीमांसक चुनौती खड़ी करने की कोशिश की। नब्बे के दशक में यह बौद्धिक उद्यम एक नयी ऊर्जा से सम्पन्न हो कर सामने आया। इतिहासकारों, साहित्य-सैद्धांतिकी के माहिरों, समाजशास्त्रियों, भाषा-चिंतकों, नृतत्त्वशास्त्रियों और शिक्षाविदों ने रिनेसाँ और ज्ञानोदय के चिंतन, युरो-क्रिश्चियनिटी के धार्मिक विमर्श, उसके ऊपर ग्रीको-रोमन दर्शन के गहरे प्रभाव, जन-साक्षरता के आग्रहों और युक्तियों, स्कूल पाठ्यक्रम के सार्वभौमीकरण की जाँच शुरू की। इस प्रक्रिया में कई नयी बातें सामने आयीं जिन्हें बीसवीं सदी की शुरुआत में आनुशासनिक संहिताओं के पीछे छिपा दिया गया था। मेरा यह आलेख इसी शृंखला की एक छोटी-सी कड़ी है।[11]

---

[10] इन विद्वानों के इस विमर्श पर एक नज़र डालने के लिए देखें, पार्थ चटर्जी (1998), आशिस नंदी (2019), रणजीत गुहा (1988), बर्नार्ड एस. कॉन (1996), संजय सेठ (2008), गौरी विश्वनाथन (1989), ज्योत्सना एस. सिंह (1996), आलोक के. मुखर्जी (2009), तेजस्विनी निरंजना (1990).

[11] देखें, वाल्टर मिग्नोलो (1992), 'ऑन द कोलोनाइज़ेशन ऑफ़ अमेरइंडियन लेंग्वेजिज़ ऐंड द मेमॅरीज़ : रिनेसाँ थियरीज़ ऑफ़ राइटिंग ऐंड द डिसकंटिन्युटी ऑफ़ क्लासिकल ट्रेडिशन', *कम्पेरिटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 34, अंक 2 : 301-330. नब्बे के दशक से सामने आने वाला यह साहित्य रोचक, विशद् और विविध है. देखें, लुई-ज्याँ कालवेट (1998), *लेंग्वेज वार्स ऐंड लिंगुइस्टिक पॉलिटिक्स,* अनु. मिशेल पेथेरम, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन (कालवेट फ्रेंच के लेखक हैं और इस संबंध में उनकी कई रचनाएँ फ्रेंच में ही हैं); इस संबंध में न्गुगी वा थियोंगो (1986) की रचना *डिकोलोनाइज़िंग द माइंड : द पॉलिटिक्स ऑफ़ लेंग्वेज इन अफ़्रीकन लिटरेचर,* जेम्स करी, लंदन अनिवार्य रूप से पठनीय है. रॉबर्ट फ़िलिप्सन (1992) को श्रेय जाता है कि उनकी रचना *लिंगुइस्टिक इम्पीरियलिज़म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड ने इस बहस का रैडिकलाइज़ेशन कर दिया. अलस्टेयर पेनीकुक (1998) ने फ़िलिप्सन की मित्रतापूर्ण आलोचना करके *इंग्लिश ऐंड द डिस्कोर्सिज़ ऑफ़ कोलोनिएलिज़म,*

पण्डितों से संस्कृत सीखते हुए विलियम जोंस

इंग्लैंड से भारत आते समय 'क्रोकोडायल' नामक जहाज़ पर लिखी अपनी डायरी में विलियम जोंस ने अपने लिए एक सोलह सूत्रीय कार्यभार निर्धारित किया था। इन सूत्रों में दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर क्रमशः प्राचीन विश्व के इतिहास का पता लगाना, ईसाई धर्मशास्त्रों को सही साबित करने वाले प्रमाण और उदाहरण तलाशना, और प्रलयंकारी बाढ़ जैसे दृष्टांतों से संबंधित परम्पराओं की खोज करने के लक्ष्य दर्ज किये गये थे।

युरो-क्रिश्चियनिटी बनाम ईसाई आध्यात्मिकता

वस्तुतः भाषा परिवारों की अवधारणा ईसाई धर्मशास्त्र के युरोपियन पाठ की देन है। इसी से निकली समझ के आधार पर ऐतिहासिक भाषाशास्त्र (फ़िलोलॉजी) और भाषा-विज्ञान (लिंगुइस्टिक्स) जैसे अनुशासनों की भित्ति खड़ी की गयी है। यह भाषा संबंधी बिब्लिकल चिंतन मुख्य तौर पर युरो-क्रिश्चियनिटी द्वारा विकसित किया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि रोमन साम्राज्य के उत्थान से लेकर पतन, और उसके बाद ईसाइयत के विस्तार और विकास की लम्बी अवधि का गहरा संबंध औपनिवेशिक विचारधारा के भाषाई आयाम के साथ रहा है। लेकिन, यह साफ़ करना ज़रूरी है कि जिस ईसाइयत का यहाँ ज़िक्र किया जा रहा है उसका ताल्लुक़ क्रिश्चियनिटी के बुनियादी आध्यात्मिक संदेश से न हो कर इस धर्म के युरोपीय संस्करण से है। इसीलिए मैंने इसे युरो-क्रिश्चियन बौद्धिक

रौटलेज, लंदन द्वारा इस विमर्श को और समृद्ध किया. फ़िलिप्सन की पत्नी और डेनिश विदुषी टोव स्कुटनैब-कांगाज़ (2008), *लिंगुइस्टिक जीनोसाइड इन एजुकेशन – ऑर वर्ल्डवाइड डायवर्सिटी ऐंड ह्यूमन राइट्स,* ओरिएंड ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली को कई आनुषंगिक अवधारणाओं के सूत्रीकरण का श्रेय जाता है. भाषाई साम्राज्यवाद पर एक भिन्न दृष्टि के लिए रेनर एनरिके हामेल (2005), 'लेंग्वेज एम्पायर्स, लिंग्विस्टिक इम्पीरियलिज़म, ऐंड द फ़्यूचर ऑफ़ ग्लोबल लेंग्वेजिज़', युनिवर्सिडाड ऑटोनोमा मेट्रोपोलिटाना, डिपार्टमेंट ऑफ़ एंथ्रोपोलॉजी, मैक्सिको का अध्ययन उपयोगी हो सकता है. लातीनी अमेरिकी संदर्भ में वाल्टर की युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस द्वारा प्रकाशित (1995) द *डार्कर साइड ऑफ़ रिनेसाँ* अपने रैडिकल सूत्रीकरणों के लिए विचारोत्तेजक है. क्रियोल और पिडगिन समुदायों के संदर्भ में भाषा और उपनिवेशवाद के संबंधों के अध्ययन के लिए देखें, बेटिना मिगे और इज़ाबेला लीगलाइज़ (2007) का लम्बा निबंध 'लेंग्वेज ऐंड कोलोनियलिज़म : एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स इन द कांटेक्स्ट ऑफ़ क्रियोल कम्युनिटीज़', मार्लिस हेलिंगर और एन पॉवेल्स, *लेंग्वेज ऐंड कम्युनिकेशन : डायवर्सिटी ऐंड चेंज, हेंड बुक ऑफ़ एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स,* मौटन डि ग्रुइटर : 297-338. यह सूची और भी लम्बी है. इस पुस्तक की सम्पूर्ण ग्रंथावली अंत में दी गयी है जहाँ अन्य रचनाओं का हवाला मिल सकता है.

मानस के उद्यम की संज्ञा दी है। कई विद्वानों द्वारा ईसाइयत के मूल आध्यात्मिक संदेश और युरो-क्रिश्चियनिटी के बीच के अंतर को स्पष्ट किया जा चुका है। एक विश्लेषण के अनुसार :

> ईसाइयत का मौलिक संदेश हर किसी में विद्यमान दैवत्व की धारणा पर टिका था। इसके मुताबिक़ यह दैवत्व सृष्टि की हर रचना में मौजूद है। यह संदेश बताता था कि लोगों को इस दैवत्व के मुताबिक़ किस तरह से जीवनयापन करना है। लेकिन, जैसे ही ईसाइयत एक सम्प्रदाय से संगठित धर्म में बदली— इस दैवत्व पर ज़ोर नहीं रहा और जीसस का ऐतिहासिक व्यक्तित्व ही उसका केंद्रीय संदेश हो गया। परिणामस्वरूप इसके बाद क्राइस्ट को ईश्वर के उस बेटे के तौर पर पेश किया जाने लगा जो केवल यह दिखाने के लिए इतिहास में हस्तक्षेप करता है कि यह दुनिया हमेशा से किस क़दर तिरस्कार योग्य रही है; और ईश्वर के इस बेटे ने केवल यह दर्शाने के लिए हाड़-मांस की देह ग्रहण की है कि इस शरीर के परे जीवित रहना सम्भव है और पूरी निष्ठुरता के साथ कामनाओं को आत्मा की एकदम भिन्न आवश्यकताओं की मातहती में लाया जा सकता है। ईसाइयत का यह रूपांतरण सेंट पॉल के बहुप्रशंसित धर्मांतरण के प्रकरण में सर्वाधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है। इस धर्मांतरण को एक तरह के निरंतर होते हुए आत्म-वध के रूप में पेश किया जाता है। इसीलिए इतिहासकारों ने सेंट पॉल को ही ईसाइयत का आविष्कारक क़रार दिया है।[12]

ईसाइयत के इतिहास पर ग़ौर करने से पता चलता है कि उसके भीतर कई प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। एक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि असीसी के संत फ्रांसिस थे जिन्होंने प्रकृति से मनुष्य की निकटता और मानवेतर जीवों के प्रति दया-ममता के सिद्धांत का निरूपण किया था। युरो-क्रिश्चियनिटी के दायरे में इस रुझान का मुक़ाबला ग़ैर-ईसाइयों के प्रति संत ऑगस्तीन द्वारा प्रतिपादित आक्रामक सिद्धांत से था। ऑगस्तीन 'रचनात्मक उत्पीड़न' के पक्ष में थे, ताकि धर्मशास्त्रीय दृष्टि से समरूप ईसाई समाज बनाया जा सके। संत फ्रांसिस के निधन के बाद युरो-क्रिश्चियनिटी पर ऑगस्तीन की 'रचनात्मक उत्पीड़न' की थीसिस हावी होती चली गयी। इसका परिणाम मानवीय इतिहास के सर्वाधिक कामयाब और सर्वाधिक दीर्घजीवी अधिनायकवादी समाज (मध्ययुगीन युरोपीय ईसाइयत) के रूप में सामने आया।[13] इस समाज का मानस ऑगस्तीन के अनुसार 'पुण्य' और दुष्टता के 'प्रलोभन' के बीच निरंतर आयोजित किये जाने वाले युद्धों (भीषण नरसंहारों से भरे हुए 'क्रुसेड्स' और धर्मांतरणकारी हिंसा) से रचा गया था।[14]

भाषा संबंधी बिब्लिकल चिंतन

भाषा परिवारों की अवधारणा 'जेनेसिस' (*ओल्ड टेस्टामेंट* या *हिब्रू बाइबिल*) में लिखी कहानियों (बेबेल की मीनार, प्रलयंकारी बाढ़, हज़रत नूह की किश्ती, उनके तीन बेटों और उनके वंशानुक्रम के आधार बने बनाए गये ट्री ऑफ़ नेशंस और हज़रत मूसा के नृजाति-विज्ञान) से निकली है।[15] 'जेनेसिस' के दृष्टांत मिल कर भाषा के जन्म और प्रयोग की बिब्लिकल महागाथा बनाते हैं। एंतन

---

[12] जियाउद्दीन सरदार, आशिस नंदी, मेरिल विन डेवीज़ और क्लॉड अलवारिस (1993 : 27. विस्तार से पढ़ने के लिए देखें, फ्रेड्रिक टर्नर (1980).

[13] दसवीं से तेरहवीं सदी के बीच युरो-क्रिश्चियनिटी की ऐतिहासिक निर्मिति के विस्तार से अध्ययन के लिए देखें आर.डब्ल्यू. सदर्न (1961) की कालजयी रचना.

[14] देखें, निता वान डर बॉस का लेख, 'ऑगस्तींज़ एटीट्यूड टुवड्र्स अदर रिलीजस ग्रुप्ज़ : फ्रॉम टॉलरेशन टू कोअर्शन' file:///C:/Users/Dell%w®pc/Downloads/Augustines_attitude_towards_other_religi%w®(v).pdf, 2 नवम्बर, 2019 को देखा गया.

[15] यहाँ ईसाई बिब्लिकल कैनॅन की बुनियादी संरचना को मोटे तौर पर समझना ज़रूरी है. इसके दो हिस्से हैं. पहला है *ओल्ड टेस्टामेंट* (हिब्रू में लिखित, चौबीस अध्याय), और दूसरा है न्यू टेस्टामेंट (कोइने ग्रीक में लिखित, 27 अध्याय). इस कैनॅन को लेकर विभिन्न ईसाई मतों-सम्प्रदायों में तरह-तरह के विवाद हैं. लेकिन, *ओल्ड टेस्टामेंट* के पहले अध्याय 'जेनेसिस' के पहले ग्यारह हिस्सों में ईश्वर द्वारा दुनिया को रचे जाने का जो विवरण है, उसे सभी तरह के ईसाइयों की मान्यता प्राप्त है.

कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के मंच पर विलियम जोंस (1746–1994) द्वारा भारोपीय भाषा परिवार की धारणा का प्रतिपादन किया गया। इसका एक दूसरा नाम आर्य भाषा परिवार भी है। इस भाषा परिवार का विमर्श पहले तो संस्कृत (ग्रीक और लैटिन के साथ इसकी समानताओं को रेखांकित करते हुए) को सभी भारतीय भाषाओं की जननी (प्रकारांतर से भारतवर्ष की भाषिक एकता का तर्क) मानता है, और फिर संस्कृत के साथ भारतीय देशभाषाओं के संबंध की व्याख्या करते हुए इस एकता को भाषिक के साथ-साथ नृजातीय संदर्भों में भी पेश करता है।

बौस्क्वे के शब्दों में यह महागाथा वह 'कच्चा माल' है जो मनुष्य को उसके भाषाई अस्तित्व पर सोचने का एक लाज़िमी आधार प्रदान करता है।[16] 'जेनेसिस' के पृष्ठ 'ओरिजिनल सिन' के कारण आदम के स्वर्ग से निष्कासन से पहले की कहानियाँ भी कहते हैं, और बाद की भी। दोनों ही (निष्कासन से पहले और बाद की) तरह की पुराकथाओं में भाषा की केंद्रीयता स्पष्ट है। दरअसल, *बाइबिल* का यह हिस्सा भाषा के मूल उद्गम के साथ-साथ एकभाषिता और बहुभाषिता की स्थितियों पर एक ऐसा मूल्य-निर्णय करता है जिसके आधार पर पिछली कई सदियों में पश्चिम के भाषा-चिंतन ने अपनी विमर्श-निर्मिति की है।

'जेनेसिस' के मुताबिक़ जब ईश्वर ने रोशनी बनाई, और उसे अँधेरे से अलग किया, तो पहली बार सृष्टि की रचना-प्रक्रिया में भाषा प्रगट हुई। ईश्वर ने सभी तरह के पशु-पक्षियों (एक तरह से समग्र जैविक संसार) की रचना की। अपनी ही छवि में आदम (पहला मनुष्य या पुरुष जिसकी पसली

---

[16] *ओल्ड टेस्टामेंट* में भाषा से संबंधित पुराकथाओं की ईसाई धर्मशास्त्रियों की राय के आलोक में समीक्षा के सघन विश्लेषण के लिए देखें, एंतन बौस्क्वे (2018) : 53–91.

से बाद में हव्वा यानी पहली स्त्री की रचना हुई) को बनाया। उसे सारी सृष्टि के ऊपर अधिकार दिया। फिर जन्नत के सुरम्य माहौल में बैठे आदम के पास नामकरण के लिए तमाम जीव-जंतुओं को भेजा। आदम ने एक-एक करके सभी पशु-पक्षियों और वनस्पतियों, खनिजों और प्रकृति के हर तत्त्व को एक-एक नाम दिया। इस प्रकार आदम द्वारा नामकरण के रूप में भाषा का पहली बार प्रयोग किया गया।[17] *बाइबिल* प्रदत्त भाषाई विचार नामकरण को स्वामित्व का पर्याय क़रार देता है। नामकरण के ज़रिये ही आदम द्वारा प्रकृति को अधीनस्थ किया गया (स्वयं आदम, पृथ्वी और आकाश का नामकरण ईश्वर ने किया था, इसलिए ये सभी ईश्वर के अधीन हुए)।[18] रोमन लॉ में भी नामकरण के ज़रिये अधीनता आरोपित करने का प्रावधान है, और इसी क़ानून का इस्तेमाल करके कोलम्बस ने कैरिबियन धरती पर वहाँ के द्वीपों को भाषा और नामकरण के खेल द्वारा स्पेन का उपनिवेश बनाने की शुरुआत की थी।

'ओरिजिनल सिन' के कारण आदम और हव्वा को स्वर्ग से निष्कासित कर दिया गया। इस मूल जोड़े की दस पीढ़ियों के बाद (आदम से नूह तक दस पितृपुरुष) ईश्वर द्वारा दण्डस्वरूप पैदा की गयी सर्वनाशी बाढ़ (आदम ही नहीं, आदम की संतानें भी ईश्वर की निगाह में पापी थीं। इसीलिए उसने पुण्यात्माओं के लिए बनाई गयी अपनी सृष्टि को ही बाढ़ द्वारा नष्ट करने का फ़ैसला लिया। ईश्वर आदम की संतानों में एकमात्र पुण्यात्मा नूह से प्रसन्न था। इसलिए उसने क़यामत लाने से पहले नूह को एक 'आर्क' या नाव बनाने का आदेश दिया। इस नाव में पृथ्वी की हर प्रजाति के एक-एक जोड़े को जगह दी गयी) में केवल आदिपुरुष नूह और उनकी नाव में सुरक्षित कर ली गयी प्रजातियाँ बचीं। नूह के वंशजों ने मिल कर एक जगह पर एक समुदाय (72 घरों का पहला मानवीय समाज) के रूप में रहना शुरू कर दिया। 'जेनेसिस' के मुताबिक़ इस समय सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा थी (आदम द्वारा बोली जाने वाली हिब्रू), और थे केवल कुछ शब्द। नूह के वंशजों के इसी समुदाय ने एबर के बेटे पेलेज के ज़माने में निमरॉड नामक बलवान आखेटक की सत्ता स्वीकार कर ली। निमरॉड के नेतृत्व में यह समुदाय पूर्वी दिशा से यात्रा करते हुए शिनार नामक स्थान पर पहुँचा, तो उन्होंने एक शहर और ईंट-पत्थरों का इस्तेमाल करके एक ऐसी मीनार बनाने का फ़ैसला किया जिसका ऊपरी सिरा स्वर्ग तक पहुँच सकता हो। (संत ऑग्स्तीन के अनुसार यह टॉवर दूसरी प्रलयंकारी बाढ़ के अंदेशे के ख़याल से बनाया गया था। यानी इस मीनार की रचना के विचार में ही ईश्वर के प्रति आस्था प्रश्नांकित हो रही थी, क्योंकि ईश्वर ने नूह को प्रलयंकारी बाढ़ दोबारा न लाने का आश्वासन दे दिया था।)

बहरहाल, जब वह मीनार काफ़ी ऊँचाई तक पहुँच गयी तो ईश्वर को लगा कि आदम की संतानें इस मीनार के ज़रिये स्वर्ग पर धावा बोल सकती हैं। इसलिए उसने स्वयं नीचे आ कर शिनार के नगर और उस मीनार को देखा। ईश्वर ने यह भी देखा कि आदम की संतानों की इस जुर्रत के पीछे का प्रमुख कारण एक समुदाय में एकताबद्ध हो कर रहना और एक भाषा बोलना है। (संत ऑगस्तीन के मुताबिक़ एक भाषा की प्रमुखता प्रभुत्व का पर्याय होती है।) इस उपक्रम से नाराज़ ईश्वर को लगा कि उन्हें स्वर्ग तक पहुँचने के एकताबद्ध संकल्प से रोकने का एक ही तरीक़ा है कि उन्हें एक-दूसरे की बात समझने से रोक दिया जाए। इसलिए ईश्वर ने उन्हें बहुभाषी बना कर विभिन्न राष्ट्रों में बाँट कर सारी दुनिया में बिखरा दिया। परिणामस्वरूप दुनिया में 72 राष्ट्र और 72 भाषाएँ हो गयीं। इस मीनार को 'टॉवर ऑफ़ बेबेल' कहा गया, और बहुभाषिता को 'कन्फ़्यूज़न ऑफ़ टंग्ज़' की संज्ञा दी गयी। हिब्रू भाषा में बेबेल का तात्पर्य है अलग-अलग भाषाओं में एक-दूसरे से बात करने के कारण

---

[17] 'जेनेसिस' के दूसरे हिस्से में दर्ज इस कथा के भाषा संबंधित पहलुओं के एक रोचक पाठ (जिसमें उत्तर-संरचनावादी समझ की आलोचना की गयी है) के लिए देखें, वेंडल वी. हैरिस (1986).

[18] एंतन बौस्क्वे (2018), उपरोक्त : 155.

ka	kha	ga	gha	ṅa	ca	cha	ja
[kɒ]	[kʰɒ]	[gɒ]	[gʱɒ]	[ŋɒ]	[cɒ]	[cʰɒ]	[ɟɒ]
ṭa	ṭha	ḍa	ḍha	ṇa	ta	tha	da
[ʈɒ]	[ʈʰɒ]	[ɖɒ]	[ɖʱɒ]	[ɳɒ]	[t̪ɒ]	[t̪ʰɒ]	[d̪ɒ]
pa	pha	ba	bha	ma	ya	ra	la
[pɒ]	[pʰɒ]	[bɒ]	[bʱɒ]	[mɒ]	[jɒ]	[rɒ]	[lɒ]
śa	ṣa	sa	ha	ḷa	ḻa	ḻa	
[ɕɒ]	[ʂɒ]	[sɒ]	[hɒ]	[ɭa]	[ɭa]	[ɭa]	

एलिस ने कैम्पबेल के तर्क की संस्तुति की और द्रविड़ भाषा परिवार के सूत्रीकरण तक पहुँचे। उन्होंने तेलुगु, कन्नड़ और तमिल के देश्य अंगों की शिनाख़्त करते हुए दिखाया कि इनकी परस्पर सजातीयता तीनों भाषाओं के समान उद्‌गम का प्रमाण है और इस लिहाज़ से यह द्रविड़ भाषाओं का वंशवृक्ष है। इसे द्रविड़ भाषा परिवार कहा जाना चाहिए। मामिडी वेंकैया के तेलुगु व्याकरण *आंध्रदीपिका* के हवाले से एलिस ने निष्कर्ष निकाला कि कुछ धार्मिक और तकनीकी शब्दों के अपवाद को छोड़ कर ऐसी कोई अभिव्यक्ति या विषय नहीं है जिसके लिए तेलुगु भाषा को संस्कृत से शब्द लेने की आवश्यकता पड़े।

सार्थक संवाद स्थापित न हो पाना।[19] ज़ाहिर है कि *बाइबिल* की इस कथा के ज़रिये बहुभाषिता (जिसके गर्भ से परस्पर फूट, मतभेद, युद्ध का जन्म हुआ) को एक ईश्वर-प्रदत्त अभिशाप (सेंट जॉन ने बेबेल की मीनार बनाने के पास की तुलना आदम और हव्वा द्वारा वर्जित फल खाने के 'ओरिजिनल सिन' से की है) की तरह पेश करते हुए अपने तात्पर्यों में एकभाषिता को मनुष्य की प्रगति के लिए रेखांकित आवश्यक क़रार देने की प्रवृत्ति उभरी। एकभाषिता का यह प्रबल (ईश्वरप्रदत्त) तर्क उपनिवेशवादी की भाषाई विचारधारा का बुनियादी तत्त्व बना।

'जेनेसिस' से ही उपनिवेशवादी भाषा-चिंतन ने अपनी तीसरी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधारशिला प्राप्त की। बेबेल की मीनार द्वारा भाषा और राष्ट्र का संबंध स्थापित होने के बाद 'जेनेसिस' में उपलब्ध 72 राष्ट्रों के वृक्ष (ट्री ऑफ़ नेशंस) के ज़रिये *बाइबिल* को भाषा, राष्ट्र और समुदायों के आपसी संबंधों का समीकरण स्थापित करते हुए दिखाया गया। चूँकि 'जेनेसिस' में इसका श्रेय मूसा को दिया गया है, इसलिए थॉमस ट्राउटमान ने इसे मोज़ेक एथ्नॉलॅजी (मोज़िज़ या हज़रत मूसा का नृजाति-विज्ञान) की संज्ञा दी है। इसके मुताबिक़ आदम से नूह तक दस पितृपुरुष हुए। नूह के तीन

---

[19] देखें, हेनरी कोहेन (2013); अपने इस लेख में कोहेन ने यह भी दिखाया है कि किस तरह तेरहवीं सदी में इतालवी कवि और दार्शनिक दांते ने बेबेल की मीनार की कहानी को आगे बढ़ाते हुए उसी के आधार पर विभिन्न भाषाओं के उद्‌गम का आख्यान तैयार किया.

बेटे हुए— सेम, हैम और जैफ़ेट जिनके बेटों के वंश को विशाल वृक्ष के रूप में चित्रित किया गया। एशिया के संदर्भ में हैम को भारतवासियों या हिंदुओं का (इसी हिसाब से हिंदू हैमिटिक हुए), सेम को अरबों (जो सेमिटिक हुए) का और जैफेट को तातारों का राष्ट्रपिता कहा गया। इनके बेटों के रूप में जो पितृपुरुष हुए, उनके नाम के आधार पर भी राष्ट्रों के नाम तय हुए। जैसे, पितृपुरुष एबर को हिब्रू राष्ट्र का पिता माना गया। इसी तरह पितृपुरुष जैवन को यूनानियों के राष्ट्रपिता के रूप में देखा गया। इस मोज़ेक एथ्नॉलॅजी के हिसाब से हर मनुष्य को कहीं न कहीं दूरी या नज़दीकी की विभिन्न डिग्रियों के आधार पर तय होने वाले परस्पर रिश्ते से जुड़ा देखा जा सकता है।[20] यानी इसके आधार पर हर मनुष्य, उसके देश/राष्ट्र, उसकी संस्कृति की स्थानिकता निर्धारित की जा सकती है। तीनों अहले-किताब धर्म (यहूदी, ईसाई और इस्लाम) इस एथ्नॉलॅजी का इस्तेमाल करते रहे हैं। इस्लाम के विस्तार और उसके बाद युरोपीय प्रभुत्व के विस्तार के साथ धरती पर नये-नये समाजों को इसी एथ्नॉलॅजी में फिट करके उनका मुक़ाम तय किया जाता रहा है। आगे चल कर इस मोज़ेक एथ्नॉलॅजी को ही आधार बना कर आइज़क न्यूटन जैसे वैज्ञानिक और जैकब ब्रायंट जैसे मिथकशास्त्री की रचनाओं से भारोपीय भाषा परिवार के उस सूत्रीकरण के लिए आधारभूमि तैयार हुई जिसकी रचना भारत की ज़मीन पर नव-प्राच्यवाद द्वारा की गयी।

श्लीख़र, डार्विन और वंशवृक्ष

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध (1863) में ही जर्मन फ़िलोलॅजिस्ट ऑगस्ट श्लीख़र ने *बाइबिल* में दिये गये राष्ट्रों के वंशवृक्ष से सीधी प्रेरणा लेते हुए भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार किया। यह करते हुए श्लीख़र युरोपीय विद्वत्ता की एक स्थापित परम्परा को ही आगे बढ़ा रहे थे। भाषाओं के वंशवृक्ष के चित्रण का पहला प्रयास सातवीं सदी में स्पेन के धर्मशास्त्री इज़िडोरे (युरो-क्रिश्चियनिटी के क्षेत्र में जिन्हें प्राचीन विद्वत्ता का अंतिम वाहक माना जाता है) द्वारा किया गया था। उन्होंने अपनी रचना *इटिमोलॅजीज़* के नवें अध्याय में *बाइबिल* की राष्ट्र और भाषा से संबंधित कथाओं का विश्लेषण करते हुए प्रस्ताव किया था कि इनका सार-संकलन एक वृक्षनुमा रेखाचित्र में किया जा सकता है। इसके बाद इस तरह का दूसरा प्रयास अठारहवीं सदी में प्रोटेस्टेंट धर्मगुरु और भाषाशास्त्री आंत्वाँ कोर्ट डी जेवेलिन के भाषा-विमर्श से प्रभावित हो कर उनके शिष्य फ़ेलिक्स गैलेट द्वारा किया गया। गैलेट के भाषावृक्ष पर पहली नज़र डालते ही उसकी युरो-केंद्रीयता स्पष्ट हो जाती है। इस वृक्ष का तना केल्टिक भाषाओं से बनाया गया है, और तने के इधर-उधर शाखाओं के रूप में भाषाओं का वितरण इस आधार पर किया गया है कि उनकी भौगोलिक स्थिति युरोप के दाएँ है या बाएँ।

श्लीख़र द्वारा भाषाओं का वंशवृक्ष बनाने से चार साल पहले 1859 में चार्ल्स डार्विन की रचना *ओरिज़िन ऑफ़ स्पेशीज़* का 1859 में प्रकाशन हुआ था। इसलिए यह देख कर ताज्जुब नहीं होता कि श्लीख़र ने जो वृक्ष बनाया वह 'इंडो-युरोपियन' भाषाओं का था, और यह काम करते समय श्लीख़र के दिमाग़ में डार्विन द्वारा प्रवर्तित सैद्धांतिकी थी। इस सिलसिले में उन्होंने डार्विनियन थियरी ऐंड लिंग्विस्टिक्स शीर्षक से एक पुस्तिका भी लिखी थी। दरअसल, श्लीख़र को उनके एक मित्र ने डार्विन की रचना का जर्मन अनुवाद दिया जिसे पढ़ते ही उन्होंने अंर्स्ट हेकेल को लिखे पत्र में दावा किया कि इस किताब में जीवों और वनस्पतियों की प्रजातियों पर जो नियम लागू होते हुए दिखाए गये हैं, ठीक

---

[20] यह बताना यहाँ विषयानुकूल होगा कि *बाइबिल* के इस आख्यान का इस्तेमाल उपनिवेशीकरण के तर्क की पुष्टि के लिए भी किया जाता रहा है. जर्मनी द्वारा अफ़्रीका में भेजे गये ईसाई मिशनों के एक बड़े अधिकारी फ़्रीडिख़ फ़ाबरी ने 1859 में तर्क दिया था कि बेबेल की मीनार बनाने में भाग लेने के कारण हैम को जो शाप दिया गया था, अफ़्रीकनों ने उसे विरासत में प्राप्त किया है. इसलिए उनका उपनिवेशीकरण एकदम उचित और दैव द्वारा निर्देशित है. देखें, जोसेफ़ एरिंगटन (2008) : 128.

वे ही नियम भाषाओं की ऐंद्रिक रचना पर लागू होते हैं। जिस तरह विभिन्न प्रजातियों के वंश होते हैं, उसी तरह से भाषाएँ भी एक वंश की पुत्रियाँ होती हैं। यद्यपि श्लीख़र को उन्नीसवीं सदी में भाषाशास्त्र को भौतिकवाद से जोड़ने का श्रेय दिया जाता है, लेकिन उनकी इन बातों का सीधा मतलब था कि वे भाषाओं के मूल से संबंधित बिब्लिकल समझ को डार्विन के ज़रिये विज्ञानीकृत रूप दे रहे थे। भाषाओं के वंशवृक्ष में उन्होंने डार्विन की तर्ज़ पर जोड़ दिया कि जिस तरह कुछ प्रजातियाँ लुप्त हो जाती हैं और कुछ प्रजातियाँ उनकी क़ीमत पर स्वयं की उत्तरजीविता सुनिश्चित करती हैं, उसी तरह भाषाओं का जीवन भी होता है।[21]

इधर श्लीख़र ने डार्विन की थियरी से अपनी सैद्धांतिकी की पुष्टि की, और उधर इंग्लैंड में जैसे ही डार्विन के समर्थकों को पता चला कि एक जर्मन भाषाशास्त्री ने प्रजातियों के क्रम-विकास के सिद्धांत का समर्थन किया है, वे श्लीख़र के ज़रिये डार्विनवाद को मज़बूती देने में लग गये। दरअसल, डार्विन और श्लीख़र के बीच यह समरसता एक स्वाभाविक परिघटना थी, क्योंकि स्वयं डार्विन ने भी युरोप के बिब्लिकल चिंतन से निकली भाषा-राष्ट्र परियोजना से प्रेरणा ग्रहण की थी :

> इस दृष्टि से किये गये वर्गीकरण को भाषाओं के उदाहरण के ज़रिये समझाना बेहतर हो सकता है। अगर हमें मानवता की पूरी तरह से त्रुटिहीन वंशावली उपलब्ध करनी है तो इंसानी नस्ल का वंशानुगत विन्यास तैयार करना होगा, और उसके लिए सारी दुनिया में बोली जाने वाली नाना प्रकार की भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ेगी। अगर इसमें सभी विलुप्त हो चुकी भाषाओं के साथ बीच की और मंद गति से बदलने वाली ज़ुबानें भी मिला दी जाएँ, तो मेरा विचार है कि हमारे लिए ऐसी वंशावली उपलब्ध करना मुमकिन होगा। ... एक ही वंश की भाषाओं के बीच भिन्नता के स्तरों को समूहों के अधीन समूहों के माध्यम से व्यक्त करना होगा, लेकिन उस सूरत में भी समुचित या एकमात्र सम्भव विन्यास को वंशानुगत आधार पर ही तैयार करना होगा।[22]

डार्विनवाद के पैरोकार आम तौर पर दावा करते हैं कि प्रजातियों के बीच संबंधों की वृक्षानुरूप छवि डार्विन ने दरअसल जीवाश्म-विज्ञान (पालियोंटोलॅजी) से प्राप्त की थी। लेकिन, उनका यह उद्धरण बिना किसी शक के दिखाता है कि एक तरफ़ तो वे नस्ल और भाषा का समीकरण बैठा रहे थे, और दूसरी तरफ़ भाषा-राष्ट्र को वंशवृक्ष के ज़रिये जोड़ने वाली बिब्लिकल और प्रकारांतर से युरोपीय परियोजना उन्हें अपने काम की लग रही थी।

डार्विन की सैद्धांतिकी और श्लीख़र की फ़िलॉलॅजी का यह संयोग कई बातें कहता है। हमारे लिए सर्वाधिक विषयानुकूल यह देखना है कि उन्नीसवीं सदी में बिब्लिकल भाषा-चिंतन पश्चिमी सामाजिक सैद्धांतिकी में कितनी गहराई से जमा हुआ था। डार्विन के बाद इसका दूसरा प्रमाण हमें मैक्स मुलर के उस व्याख्यान से मिलता है जिसमें उन्होंने भाषा के विज्ञान से संबंधित अपनी समझ पर विस्तार से प्रकाश डाला है :

> मानवता एक ऐसा शब्द है जिसकी तलाश प्लेटो और अरस्तू में करना व्यर्थ होगा। ईश्वर की संतानों के एक परिवार के रूप में मानवता का विचार ईसाइयत के विस्तार में निहित ख़याल की देन है। मानवता का विज्ञान और मानवता की भाषाओं का विज्ञान ईसाइयत के बिना प्राणवान हो कर सामने आ ही नहीं सकता था। जब लोगों को यह सिखाया गया था कि सभी इंसान भाई-भाई हैं, केवल तभी इंसानी ज़ुबानों की विभिन्नता एक समस्या के रूप में सामने आयी। विचारवान प्रेक्षकों को

---

[21] अठारहवीं सदी में प्रोटेस्टेंट धर्मगुरु और भाषाशास्त्री आंत्वाँ कोर्ट डी जेवेलिन के शिष्य फ़ेलिक्स गैलेट ने इसी आधार पर बाक़ायदा दुनिया की भाषाओं के वंशवृक्ष का चित्र तैयार किया. देखें, सिल्वाइन ऑरोक्स (2013). श्लीख़र के वंश-वृक्ष और उसके विश्लेषण के लिए देखें, जोसेफ़ एरिंगटन (2008), पूर्वोद्धृत : 81-83. श्लीख़र के भाषाशास्त्र के संबंध में एक हमदर्द विश्लेषण के लिए देखें, जेम्स मेक्एल्विनी (2018).

[22] देखें, चार्ल्स डार्विन (1859) : 422-423.

तभी लगा कि इस समस्या का समाधान करना चाहिए। इसीलिए भाषा के विज्ञान की वास्तविक शुरुआत की तारीख़ मैं पेंटिकोस्ट के पहले दिन को मानता हूँ।[23]

हम जानते हैं कि पेंटिकोस्ट का मतलब है ईसा मसीह के पुनरुत्थान के बात सातवें रविवार का दिन जब धर्मदूतों के लिए होली स्पिरिट का अवतरण हुआ था। सोचने की बात है कि यह व्याख्यान किस व्यक्ति का दिया हुआ है ? यह मैक्स मुलर का व्याख्यान है जो उन्होंने 1861 में दिया था, यानी उस समय तक सायण के भाष्य समेत ऋग्वेद का उनका अनुवाद प्रकाशित हुए बारह साल हो चुके थे। क्या अपने समय के सबसे बड़े भारतविद्याविद् को पाणिनि के भाषा-विज्ञान (*अष्टाध्यायी*) की कोई जानकारी नहीं थी, या वे भर्तृहरि के *वाक्यपदीय* से परिचित नहीं थे ? अगर परिचित थे, तो फिर वे मानवीय भाईचारे और भाषा-विज्ञान का मूल स्रोत ईसाइयत में ही क्यों चिह्नित कर रहे थे ? इस प्रश्न का कुछ-कुछ उत्तर मैक्स मुलर की संस्कृत व्याकरण से संबंधित धारणाओं में मिल सकता है। वे भारतीय वैयाकरणों को केवल भाषिक तथ्यों के संकलनकर्ता के रूप में देखते थे। उन्हें यक़ीन था कि भारतवासियों में युरोप की तरह 'थियरी' बनाने की क्षमता ही नहीं है। चूँकि युरोप को हेलेनिक दर्शन (ग्रीको-रोमन चिंतन) का वरदान मिल गया है, इसलिए उनमें सामान्यीकरण (जनरलाइज़ेशन) और अमूर्तन (एब्सट्रेक्शन) की क्षमता विकसित हो गयी है। यही कारण है कि युरोपियन 'थियराइज़ेशन' करने लगे, जबकि भारतीय चिंतक विशिष्टतावादी (पर्टिकुलरिस्ट) रवैये में ही अटके रह गये।[24] मैक्स मुलर के इस उदाहरण से एक बार फिर युरो-क्रिश्चियनियटी और ग्रीको-रोमन विचार के बीच निकट संश्रय का उदाहरण मिलता है।

मानविकी के क्षेत्र में बिब्लिकल चिंतन को आधारभूत मानने की प्रवृत्ति आज तक प्रचलित और प्रभावी है। यह अलग बात है कि आज की तारीख़ में भाषा-विज्ञान के इतिहासकार अपने शास्त्र की जड़ों को *बाइबिल* में देखने की खुली स्वीकारोक्ति के लिए तैयार नहीं हैं। वे चतुराईपूर्वक इस तथ्य को छिपाते हैं। थॉमस ट्राउटमान के शब्दों में :

> *बाइबिल* से लेकर अठारहवीं सदी तक अहले-किताब लोगों के सार्वभौम इतिहास में मोज़ेक एथ्नॉलॅजी का इस्तेमाल किसी समाज और राष्ट्र की स्थिति (स्थानिकता) का पता लगाने वाली प्रमुख प्रौद्योगिकी के तौर पर होता था। यह प्रौद्योगिकी आज भी न केवल प्रचलित है, बल्कि पहले से अधिक पनप चुकी है। यह अलग बात है कि ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के संरचनागत उसूल के तौर पर इसका चलन बदले हुए सेकुलरीकृत और विज्ञानीकृत स्वरूप में किया जा रहा है (दूसरी तरफ़ नृवंशशास्त्रीय विश्लेषण ने आत्म बनाम अन्य के हिगेलियन परिप्रेक्ष्य की शक्ल ले ली है)। हमारे लिए यह ज़रूरी है कि हम भाषाशास्त्रीय इतिहास द्वारा किये गये मोज़ेक एथ्नॉलॅजी के इस अनुकूलन पर ग़ौर करें।
>
> भाषा-विज्ञानियों को लगता है कि उनके शास्त्र की जड़ें *बाइबिल* में होने का तथ्य उनकी प्रतिष्ठा संदिग्ध कर देगा। इसलिए इस हक़ीक़त को बार-बार मिटाने और जानबूझ कर भुलाने की कोशिशें की गयी हैं। अपने अनुशासन के दायरे में भाषा-विज्ञान का इतिहास इस तरह लिखा गया है जैसे कि वह अतीत के साथ एक विच्छिन्नता का परिणाम हो, जैसे कि अ-विज्ञान से विज्ञान के चमत्कारिक उदय के क्षण में कोई नयी ज़मीन तोड़ी गयी हो। विज्ञान-पूर्व युग से आये हुए नूह के बेटों के नामों पर आधारित भाषाई समुदायों को दिये जाने वाले 'सेमिटिक' और 'हैमिटिक' जैसे नामों की व्याख्या इस प्रकार की जाती है जैसे कि वे अतीत के ग़ैर-वैज्ञानिक अवशेष मात्र हों जिन्हें आज वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में फिर से ग्रहण कर लिया गया है। लेकिन, भाषा-विज्ञान के घोषणापत्र के इस बुनियादी मिथक के आवरण में छिपाने के सामूहिक कृत्य के बावजूद मोज़ेक

---

[23] देखें, मैक्स मुलर (1861) : 2.

[24] संस्कृत वैयाकरणों के बारे में मैक्स मुलर की इन धारणाओं के लिए देखें, एच.एच. विल्सन (1864) : 9. रेवती कृष्णास्वामी (2005) : 43-71.

ऑगस्ट श्लीख़र

जर्मन फ़िलोलॉजिस्ट ऑगस्ट श्लीख़र ने *बाइबिल* में दिये गये राष्ट्रों के वंशवृक्ष से सीधी प्रेरणा लेते हुए भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार किया। ... भाषाओं के वंशवृक्ष के चित्रण का पहला प्रयास सातवीं सदी में स्पेन के धर्मशास्त्री इज़िडोरे द्वारा किया गया था। ... दूसरा प्रयास अठारहवीं सदी में प्रोटेस्टेंट धर्मगुरु और भाषाशास्त्री आंत्वाँ कोर्ट डी जेवेलिन के शिष्य फ़ेलिक्स गैलेट द्वारा किया गया। गैलेट के भाषावृक्ष पर पहली नज़र डालते ही उसकी युरो-केंद्रीयता स्पष्ट हो जाती है। इस वृक्ष का तना केल्टिक भाषाओं से बनाया गया है, और तने के इधर-उधर शाखाओं के रूप में भाषाओं का वितरण इस आधार पर किया गया है कि उनकी भौगोलिक स्थिति युरोप के दाएँ है या बाएँ।

> एथ्नॉलॅजी आज तक ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में हो रहे काम को आकार दे रही है। राष्ट्रों के वृक्ष को अब एक पहले से चले आ रहे वैज्ञानिक नाम 'क्लैडिस्टिक्स' (वंशसांख्यिकी) की आड़ दे दी गयी है। इस बिब्लिकल वृक्ष की संरचना से फूटने वाली रोशनी भाषा-विज्ञान की विराट परियोजनाओं के आधार में है, फिर चाहे वह जार्ज ग्रियर्सन का लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया (1903-27) हो या फिर आंत्वाँ मिले का *लेस लांगे दु मोंद* (1952) हो।[25]

ट्राउटमान के अनुसार भाषाओं के परिवार बना कर उनकी एकता को अतीत पर प्रोजेक्ट करके राष्ट्रों, समाजों और संस्कृतियों के बीच समानताएँ और संबंधों को दिखाने वाले प्रयास आज तक जारी है। इसके लिए उन्होंने अफ़्रीका के बारे में 1955 में, अमेरिकी महाद्वीप के बारे में 1987 में और यूरेशियन भाषाओं के बारे में 2000 में प्रकाशित जोसेफ़ ग्रीनबर्ग के काम का ज़िक्र किया है। यह एक ऐसी युक्ति है जिसके माध्यम से बिना किसी ऐतिहासिक या पुरातत्वशास्त्रीय प्रमाण के हज़ारों मील और हज़ारों वर्ष दूर के समाजों, प्रजातियों और संस्कृतियों को एक-दूसरे से जुड़ा बताने का दावा किया जा सकता है। इसी के साथ-साथ ट्राउटमान ने विलियम जोंस का ज़िक्र भी किया है जिन्होंने अठारहवीं सदी के कलकत्ता में इसी बिब्लिकल विचार पर अक्षरश: चलते हुए एशियाटिक सोसाइटी के मंच से भारोपीय (इंडो-युरोपीय) भाषा-परिवार का सूत्रीकरण किया और अंग्रेज़ों को अतीत के भारतीय स्वर्ण-युग के वाहक और उत्तराधिकारी के तौर पर पेश करने में सफलता प्राप्त की।[26] उन्नीसवीं सदी के मध्य में इसी युक्ति का इस्तेमाल मैक्स मुलर ने इस दावेदारी के लिए किया कि युद्ध जीत कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डालने वाले अंग्रेज़ सिपाहियों की धमनियों में 'डार्क बंगालियों' जैसा रक्त ही बह रहा था। विजेताओं और विजितों के बीच रक्त की इस समानता का

---

[25] देखें, थामस आर. ट्राउटमान (2006) : पहला अध्याय 'एक्सप्लोज़न इन ग्रामर फ़ैक्टरी'. ट्राउटमान ने अपनी खोज में यह भी दावा किया है कि टॉलेमी द्वारा बनाया गया सौरमण्डल का पृथ्वी-केंद्रित मॉडल प्रच्छन्न रूप से आज भी भाषाशास्त्र को प्रभावित कर रहा है, बावजूद इसके कि कॉपरनिकस के सूर्य केंद्रित मॉडल और उसके बाद थॉमस कुन के विज्ञान संबंधी पैराडाइम-शिफ़्ट ने प्राकृतिक-विज्ञान के क्षेत्र में टॉलेमी को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है.

[26] विलियम जोंस संबंधी प्रकरण के बारे में विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, थामस आर. ट्राउटमान (1997) : दूसरा अध्याय 'द मोज़ेक एथ्नॉलॅजी ऑफ़ एशियाटिक जोंस'.

आधार किसी जौविक खोज की देन नहीं थी, बल्कि मैक्स मुलर ने जोंस द्वारा प्रतिपादित भारोपीय भाषा परिवार में ही इसका प्रमाण देखा था।[27] जिस ज़माने में अंग्रेज़ महाप्रभु भारत में निरंतर युद्धरत थे, उनकी इससे बड़ी बौद्धिक सेवा और क्या हो सकती थी कि औपनिवेशिक दासता को भाषा के ज़रिये नस्लगत भाईचारे के रूप में दिखा दिया जाए।

नीचे दिये गये विश्लेषणात्मक विवरण में भारोपीय और द्रविड़ भाषा परिवारों के बनने की बौद्धिक प्रक्रियाओं को पेश किया गया है जिनसे यह तथ्य और स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि इनके ज़रिये किस तरह ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान (फ़िलॉलॅजी) का नया संस्करण तैयार हुआ जो उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा का प्रमुख औज़ार बना।

नव-प्राच्यवाद और भाषा परिवार

भाषा परिवारों का विमर्श नव-प्राच्यवादी परियोजना के दायरे में संसाधित हुआ। जैसा कि हम जानते हैं कि संस्थागत रूप से नव-प्राच्यवाद एक तितरफ़ा संरचना थी। इस तितरफ़ापन की पहली बानगी बंगाल में दिखी जब कम्पनी सरकार, एशियाटिक सोसाइटी और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के समवेत् प्रयासों से यह विमर्श परवान चढ़ना शुरू हुआ। फिर इसी प्रारूप पर मद्रास में कम्पनी सरकार, लिटरेरी सोसाइटी ऑफ़ मद्रास और फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज कॉलेज के संयुक्त प्रयासों से नव-प्राच्यवाद का दक्षिण भारतीय संस्करण चालू हुआ। बम्बई की नव-प्राच्यवादी विद्वत्ता की भी ठीक-ठीक ऐसी ही कहानी है (कम्पनी सरकार, एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा और एजुकेशन सोसाइटी ऑफ़ बॉम्बे, पुणे संस्कृत कॉलेज जो बाद में डेकन कॉलेज बना)। ब्रिटिश नव-प्राच्यवादी भाषा परिवारों के सूत्रीकरण पर निम्नलिखित क्रम से पहुँचे :

■ 1786 में कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के मंच पर विलियम जोंस (1746-1994)[28] द्वारा भारोपीय भाषा परिवार[29] की धारणा का प्रतिपादन किया गया। इसका एक दूसरा नाम आर्य भाषा परिवार भी है। इस भाषा परिवार का विमर्श पहले तो संस्कृत (ग्रीक और लैटिन के साथ इसकी समानताओं को रेखांकित करते हुए) को सभी भारतीय भाषाओं की जननी (प्रकारांतर से भारतवर्ष की भाषिक एकता का तर्क) मानता है, और फिर संस्कृत के साथ भारतीय देशभाषाओं के संबंध की व्याख्या करते हुए इस एकता को भाषिक के साथ-साथ नृजातीय संदर्भों में भी पेश करता है। दावा किया जाता है कि इसके दायरे में उत्तर भारत का तक़रीबन पूरा क्षेत्र, पश्चिम के तटीय इलाक़े का अच्छा-ख़ासा हिस्सा और सिंहली भाषा बोलने वाला श्रीलंका का ज़्यादातर क्षेत्र आता है।

■ 1801 में एच.डी. कोलब्रुक की रचना *ऑन द संस्कृत ऐंड प्राकृत लेंग्वेजिज़* का प्रकाशन हुआ जिसमें संस्कृत के साथ प्राकृतों (लिखित साहित्य और नागरिक जीवन में विमर्श की माध्यम भारतीय

---

[27] मैक्स मुलर (1854).

[28] उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय विद्वत्ता पर विलियम जोंस का प्रभाव आज तक क़ायम है. ख़ासकर संस्कृत विद्वत्ता का दायरा उनके प्रति अक्सर कृतज्ञता व्यक्त करता रहता है. यह देख कर ताज्जुब होता है कि इस दायरे के कुछ शीर्ष विद्वान जोंस द्वारा प्रतिपादित इंडो-युरोपीय भाषा परिवार की धारणा का विरोध भी करते हैं (यह माना जा सकता है कि वे इस प्रतिपादन से हुए नुक़सान से भी परिचित होंगे), पर जोंस के 'भारत प्रेम' पर गद्‌गद भी रहते हैं. ओम प्रकाश केजरीवाल (1988) ने अपनी रचना के एक विशाल अध्याय में जोंस की शख़्सियत का चित्रण कुछ इस अंदाज़ में किया है जैसे कि वे कोई मिथकीय हस्ती हों. जोंस की बौद्धिक उपलब्धियों पर की गयी शंकाओं का उन्होंने इस तरह जवाब दिया है कि जैसे वे जोंस के प्रतिनिधि हों. केजरीवाल की अपेक्षा जोंस के बारे में कुछ अधिक विश्वसनीय आख्यान के लिए देखें, एस.एन. मुखर्जी (1968). इस पुस्तक और विलियम जोंस की उपलब्धियों की एक तिरस्कारपूर्ण लेकिन दिलचस्प समीक्षा के लिए देखें, रणजीत गुहा (2002) : 435-437.

[29] यहाँ स्पष्ट करना ज़रूरी है कि 'भारोपीय' या 'इंडोयूरोपियन' पद का पहला इस्तेमाल विलियम जोंस ने नहीं किया था. यूरेशिया की भाषाओं के लिए यह पद पहली बार 1813 में थॉमस यंग ने गढ़ा था.
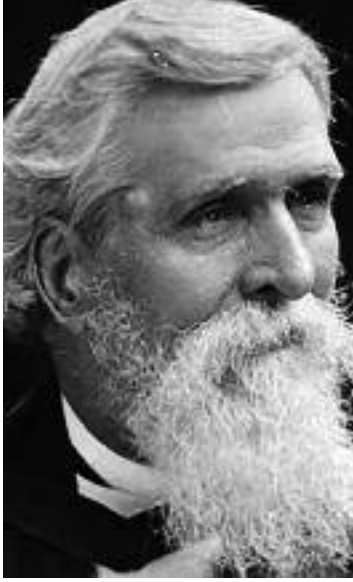
कॉल्डवेल अचानक बताने लगते थे कि द्रविड़ भाषाएँ संस्कृत के ख़िलाफ़ तीन हज़ार साल से टिकी हुई हैं। जिन भाषाओं में संस्कृत से लिए गये शब्दों की भरमार है, और विमर्श-निर्मिति में भाग लेने की उनकी क्षमता ही संस्कृत से उनके सान्निध्य पर टिकी है, उन भाषाओं को वे संस्कृत से संघर्ष करते हुए दिखा रहे थे। जिन ब्राह्मणों को एक ज़माने में स्वयं दक्षिण भारतीय राजाओं ने उत्तर से अपने यहाँ बुलाया था, और जिनके उद्यम के फलस्वरूप दक्षिण भारतीय भाषाओं के व्याकरण रचे गये और संगम साहित्य की शुरुआत हुई, उन ब्राह्मणों को कॉल्डवेल ने अतीत के उन ब्राह्मणों का उत्तराधिकारी बताया जो कभी आर्यों के साथ दक्षिण में उपनिवेश क़ायम करने के लिए आये थे। और तो और, उन्होंने दक्षिण भारतीय भाषाओं को संघर्ष का कार्यभार भी थमाया कि उनका काम उत्तर की भाषाओं का प्रतिरोध करते रहना है।

बिशप कॉल्डवेल

देशभाषाएँ) के संबंधों की व्याख्या करते हुए पहली बार भारत की एकता के भाषाई और नृजाति-विज्ञान संबंधी पहलुओं को आपस में जोड़ दिया गया। कोलब्रुक से पहले भारत की पारम्परिक व्याकरण-सैद्धांतिकी के हवाले से माना जाता था कि दुनिया की सभी भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और किसी न किसी प्रकार से उसके बिगड़े हुए रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कोलब्रुक और अन्य नव-प्राच्यवादियों ने इस सिद्धांत को केवल स्थानीय सच्चाई की तरह स्वीकार किया। भला वे संस्कृत में ग्रीक और लैटिन का उद्‌गम देखने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे। युरोपीय विद्वानों ने संस्कृत को केवल भारतीय भाषाओं की जननी माना। भगवान सिंह ने इस युरोपीय रवैये के पीछे मौजूद नस्लवादी आग्रह का अनावरण किया है।[30]

जो भी हो, भारत की इस संस्कृत-आधारित भाषाई एकता को कोलब्रुक ने नृजाति-विज्ञान के चश्मे से देख कर बताया कि हिंदुस्तान यानी उत्तर और दक्षिण का भारत दस भाषाई राष्ट्रों में बँटा हुआ है। उन्होंने इन भाषाई राष्ट्रों को उत्तर भारत के पाँच और दक्षिण भारत के पाँच ब्राह्मण समुदायों से संबंधित दिखाया (कोलब्रुक ब्राह्मणों को भारत में आक्रमणकारी की तरह क़दम रखने वाले समुदायों के रूप में देखने की सम्भावना के बड़े समर्थक थे)। उत्तर के ब्राह्मणों को उन्होंने पाँच तरह के गौड़ों की संज्ञा दी—एक ख़ास तरह की प्राकृत (जो अब लुप्त हो चुकी है) बोलने वाले पंजाब के सारस्वत,

---

[30] भगवान सिंह का यह कथन उद्धृत करने योग्य है : 'पर संस्कृत के प्रति इस समस्त आभार के बावजूद अधिकांश युरोपीय पण्डितों को संस्कृत का यह महत्त्व सह्य नहीं था और वे इसकी आप्तता से मुक्ति के लिए भीतर ही भीतर व्यग्र थे. कारण पाश्चात्य चिंतन मुख्यत: नस्लवादी था और संस्कृत की श्रेष्ठता का निहितार्थ था गोरे युरोपवासियों का काले बंगालियों की संतान सिद्ध होना. इस व्यग्रता की अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई थी. इनमें से एक थी ऐसे हर मामले में जहाँ यह सिद्ध किया जा सके कि ग्रीक आदि में भी कतिपय प्राचीन रूप बचे हुए हैं जिन्हें अपने संस्कृत सजातों से भी पुराना माना जा सकता है, वहाँ संस्कृत की उपेक्षा करते हुए युरोपीय भाषाओं को तरजीह देना। इस लालसा ने ही अपने अधिक प्रखर रूप में आद्य भारोपीय की पुनर्सजना को भी प्रोत्साहित किया था, यह कहना ग़लत नहीं होगा. संस्कृत के प्रति इस प्रतिस्पर्धा की सबसे मुखर अभिव्यक्ति कर्टियस की इस उक्ति में हुई थी जिसमें उसने कहा था, 'संस्कृत जो एक समय में इस उदीयमान विज्ञान की आप्त निर्देशिका बनी हुई थी और जिस पर आँख मूँद कर विश्वास किया जाता था उसे आज धता बता दी गयी है. जहाँ पुराना मुहावरा था 'अरुणोदय पूर्व में होता है' वहाँ नया मुहावरा है 'पूर्व का अनुगमन अंधकार की उपासना है', देखें, भगवान सिंह (2013) : 66.

कन्नौज के कान्यकुब्ज जिनकी प्राकृत हिंदी कहलाती है, बंगाल के गौड़ जिनकी प्राकृत आगे चल कर बांग्ला भाषा बन गयी, तिरहुत के रहने वाले मैथिली जिनकी प्राकृत बांग्ला से थोड़ी ही अलग है, और उत्कल या ओड़ीशा के ब्राह्मण जिनकी प्राकृत ओड़िया है। दक्षिण के ब्राह्मणों को उन्होंने द्रविड़ की संज्ञा से विभूषित किया— तमिल देश के द्रविड़ जिनकी प्राकृत तमिल है, महाराष्ट्र के द्रविड़ जिनकी प्राकृत में संस्कृत से लिए गये और उसके भ्रष्ट हो चुके शब्दों की भरमार है (इसमें फ़ारसी और अरबी के शब्द भी मिलते हैं), करनाटा[31] के द्रविड़ कन्नड़ भाषा बोलते हैं, और गुर्जर या गुजरात के द्रविड़ जो एक ऐसी प्राकृत बोलते हैं कुछ-कुछ हिंदी जैसी है। कोलब्रुक यहाँ थोड़े भ्रमित नज़र आये। गुजरातियों को द्रविड़ बता देने के बाद उन्हें लगा कि इस श्रेणी में उत्कलों को रखना चाहिए और गुर्जरों को उत्तर भारत के गौड़ों के साथ जोड़ना चाहिए। कोलब्रुक के इस वर्गीकरण के बाद से ही भाषा-विमर्श और नृजातीय विमर्श में दक्षिण भारत के लिए द्रविड़ शब्द का एक श्रेणी की तरह इस्तेमाल होने लगा।

■ कोलब्रुक के बाद जॉन लीडिन ने 1803 के आसपास *प्लैन फ़ॉर इंवेस्टिगेटिंग द लेंग्वेजिज़, लिटरेचर, एंटीक्विटीज़ ऐंड हिस्ट्री ऑफ़ द देक्कन* के पहले खण्ड में दक्षिण भारत की 'हिंदू जनजातियों' के रूप में तमिलों, तेलिंगाओं, कर्नाटाओं, मराठियों और गुजरातियों की 'द्रविड़' श्रेणी बनायी। फिर उसमें कोलब्रुक से सुझाव के मुताबिक़ ओड़िया लोगों को भी जोड़ दिया। उन्होंने दावा किया कि संस्कृत दक्षिण की स्थानीय या देशज भाषा नहीं थी, बल्कि धर्म और विज्ञान की भाषा के रूप में उसका फैलाव विदेशियों की विजय का परिणाम था।[32] इसके अलावा उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि भाषाई दृष्टि से इस देश के दो सिरे हैं। दक्षिण के सिरे पर तमिल स्थित है जो सर्वथा मौलिक अपनी विशुद्ध अवस्था में संस्कृत से पूर्णरूपेण असम्बद्ध है। उत्तर के सिरे पर संस्कृत जमी हुई है।

■1816 में ए.डी. कैम्पबेल की रचना *अ ग्रामर ऑफ़ द तेलुगु लेंग्वेज* का प्रकाशन फ़ोर्ट सेंट जार्ज कॉलेज ने किया। इसकी भूमिका फ़्रांसिस व्हाइट एलिस (1777-1819)[33] ने लिखी जिसमें पहली बार भाषा-विज्ञान के मंच पर द्रविड़ भाषा परिवार का सूत्रीकरण प्रकट हुआ। इसकी प्रमुख दावेदारी यह है कि दक्षिण भारत और मध्य भारत में बोली जाने वाली भाषाओं का उद्‌गम संस्कृत में निहित नहीं है। इसके दायरे में समूचा दक्षिण भारत, मध्य भारत का बहुत बड़ा इलाक़ा और श्रीलंका का तमिलभाषी क्षेत्र माना जाता है। एलिस के बाद 1856 में बिशप रॉबर्ट कॉल्डवेल (1814-1891)[34] ने अपनी रचना *अ कम्परेटिव ग्रामर ऑफ़ द द्रविड़ियन ऑर साउथ-इंडियन फ़ेमिली ऑफ़ लेंग्वेजिज़* के ज़रिये इस धारणा की भरपूर पुष्टि की। (भारत में एक तीसरा भाषा परिवार भी है : ऑस्ट्रोएशियाटिक या आस्त्रिक भाषा परिवार जिसे मुण्डा या कोल भाषा परिवार के नाम से भी जाना जाता है। इसके

---

[31] करनाटा शब्द दरअसल कोलब्रुक द्वारा इस्तेमाल किया गया है. राधावल्लभ त्रिपाठी के अनुसार संस्कृत में यह शब्द कर्णाटया या कर्णाटक है.

[32] आज के पुरातत्त्वशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर काफ़ी विचार किया है. मसलन, जिम शेफ़र (1984) : 77-90 ने इस धारणा का खण्डन किया है कि संस्कृत भारत में हमलावरों के साथ आयी. भारतीय पुरातत्त्वशास्त्री एस.आर. राव (1982) ने अपनी कृति में दावा किया है कि संस्कृत सिंधु घाटी सभ्यता की भाषा थी, न कि बाहर से आयी थी. श्रीकांत जी. तालागेरी (1993) ने अपनी पुस्तक में दिखाया है कि भारोपीय भाषाओं का उद्‌गम भारत में था. यहीं से वे युरोप में फैलीं।

[33] एलिस मद्रास के कलक्टर थे, लेकिन उनकी मुख्य महत्त्वाकांक्षा अकादमीय थी. उन्हीं के प्रयास से मद्रास स्कूल ऑफ़ ओरिएंटलिज़म परवान चढ़ा, और फ़ोर्ट सेंट जार्ज कॉलेज को उन्हीं के मानसपुत्र की तरह देखा जा सकता है. अल्पायु में दुर्घटनावश (उन्होंने एक ग़लत दवा खा ली थी जिसने ज़हर का काम किया) निधन हो जाने के कारण उनके नव-प्राच्यवादी साहित्य का प्रकाशन मृत्योपरांत ही हो पाया. थामस आर. ट्राउटमान (2006), पूर्वोद्धृत ने एलिस को ही द्रविड़ भाषा परिवार के पहले सूत्रीकरण का श्रेय दिया है.

[34] पहले कॉल्डवेल की 1856 में प्रकाशित रचना *अ कम्परेटिव ग्रामर ऑफ़ द द्रविड़ियन ऑर साउथ इंडियन फ़ेमिली ऑफ़ लेंग्वेजिज़* को ही द्रविड़ भाषा परिवार की स्थापना का श्रेय दिया जाता था. लेकिन ट्राउटमान (2006) के प्रकाशन के बाद कॉल्डवेल एलिस के परवर्ती विद्वान की तरह देखे जाने लगे हैं.

दायरे में उत्तर-पूर्व का सम्पूर्ण क्षेत्र और पूर्वी-मध्य भारत माना जाता है।) द्रविड़ भाषा परिवार को इस आस्त्रिक भाषा परिवार से जोड़ कर मूलवासी बनाम बहिरागतों का रूपक बनाया गया।

भारोपीय भाषा परिवार

अठारहवीं सदी के दौरान इस भाषा परिवार का सूत्रीकरण करने वाले विलियम जोंस को इंग्लैंड में ही नहीं, बल्कि युरोप के स्तर पर विधिशास्त्री और फ़िलोलॉजिस्ट की मान्यता प्राप्त है। उन्होंने भारत में बिताए अपने जीवन के आख़िरी ग्यारह वर्षों में एक विराट बौद्धिक परियोजना चलायी। जोंस की प्रतिभा बहुमुखी थी, और उन्होंने एक साथ कई दिशाओं में सक्रियता दिखायी। उनकी बौद्धिक उपलब्धियों के बारे में बेहद विरोधाभासी आकलन किये गये हैं, जिनके बारे में मैंने अन्यत्र विस्तार से चर्चा की है। इस आलेख में केवल भारतीय भाषा परिवार से संबंधित पहलुओं पर ही ध्यान दिया गया है।[35] वारेन हेस्टिंग्ज़ की सरपरस्ती में परवान चढ़े नव-प्राच्यवाद के प्रमुख और सर्वाधिक समादृत हस्ताक्षर के रूप में जोंस ने संस्कृत भाषा को केंद्र बना कर जो सूत्रीकरण किया, वह उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के बिब्लिकल पक्ष (इसे जार्ज स्टोकिंग ने बिब्लिकल एंथ्रोपोलॅजी की संज्ञा दी है)[36] को मूर्तिमान करने का उद्यम था। अपनी इस परियोजना के सूत्र जोंस ने भौतिकशास्त्री, गणितज्ञ और खगोलशास्त्री आइज़क न्यूटन (1643-1727)[37] और ब्रिटिश विद्वान और मायथोग्राफ़र जैकब ब्रायंट (1715-1804)[38] की रचनाओं से प्राप्त किये थे।

इस संबंध में न्यूटन की मान्यताएँ उनके देहांत के एक साल बाद प्रकाशित उनकी रचना *द क्रोनोलॅजी ऑफ़ एंशिएंट किंगडम्ज़ एमेंडिड* के ज़रिये सामने आयी थीं। संक्षेप में कहें तो इस पुस्तक में न्यूटन ने साबित करने की कोशिश की थी कि मिस्र के पहले नरेश और मिस्री सभ्यता के मूल संस्थापक एमॅन के समय में मिस्रवासियों ने खगोलशास्त्र का आविष्कार किया था। वहीं से यह विज्ञान सारी दुनिया में फैला। न्यूटन ने निष्कर्ष निकाला कि पेगनवाद और विज्ञान को एक ही स्रोत से उपजे होने के नाते एकल प्रणाली के तौर पर देखा जाना चाहिए। यह दिखाने की प्रक्रिया में न्यूटन ने पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचाने की कोशिश की कि यूनान का इतिहास पहली सहस्राब्दी से अधिक पुराना नहीं माना जा सकता, और हिब्रू लोगों और उनकी भाषा हिब्रू (यहूदियों की मौजूदा भाषा हिब्रू नहीं, बल्कि हज़रत मूसा द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली हिब्रू जो विलुप्त मानी जाती है) का वजूद उनसे भी

---

[35] जोंस के जीवनीकारों और अध्येताओं (केजरीवाल, मुखर्जी, लॉर्ड टेनमाउथ, गारलैंड कैनॅन वगैरह) ने उनका चित्रण मौलिक अंतर्दृष्टियों से सम्पन्न ज्ञान के देवता और प्राच्य-साहित्य से अत्यधिक प्रेम करने वाले बहुश्रुत विद्वान के रूप में किया है. इन जीवनीकारों ने जोंस पर उपनिवेशवाद की सेवा करने के आरोपों का खण्डन करते हुए उन्हें रैडिकल विग विचारधारा के पैरोकार की तरह पेश करने का यत्न भी किया है. दूसरी तरफ़ जोंस के आलोचकों (रे हैरिस, एलुन डेविड, रणजीत गुहा वग़ैरह) की मान्यता है कि जोंस की कोई भी प्रस्थापना मौलिक नहीं थी, और उनकी भाषा-विज्ञान संबंधी धारणाएँ अठारहवीं सदी की शुरुआत में ही बन चुकी लीक पर चलने वाली थीं. उनके आलोचक यह भी कहते हैं कि प्राच्यवादी विद्वत्ता उनकी पहली प्राथमिकता नहीं थी. उन्होंने राजनीति में सफल होने की कोशिश की. अगर वे कामयाब हो जाते तो शायद वे भारत भी न आते.

[36] देखें, जार्ज डब्ल्यू. स्टोकिंग (1987).

[37] लोकप्रिय मानस में न्यूटन की छवि एक ऐसे युगप्रवर्तक वैज्ञानिक की है जिन्होंने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत दिया और दुनिया को गतिविज्ञान की सैद्धांतिकी से परिचित कराया. उनकी रचना *मैथमेटिकल प्रिंसिपल्स ऑफ़ नेचुरल फ़िलॉसफ़ी* को वैज्ञानिक क्रांति का वाहक समझा जाता है. लेकिन, उनकी 'ग़ैर-वैज्ञानिक' विद्वत्ता की चर्चा बहुत कम होती है. वैज्ञानिक होने के साथ-साथ न्यूटन धर्मनिष्ठ (कट्टर नहीं) ईसाई थे. उन्होंने अपने जीवन का काफ़ी समय बिब्लिकल क्रोनोलॅजी का अध्ययन करने में लगाया. उन्हें कीमियागरी (प्रयोगशाला में सोने के निर्माण का 'फ़र्ज़ी विज्ञान') में गहरी दिलचस्पी थी. वे दैवी शक्तियों में विश्वास करते थे. उन्होंने कहा था कि उन्होंने गति और गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत अवश्य दिये हैं, पर गृह-नक्षत्रों की गति का अध्ययन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दैवी शक्तियों ने ही उन्हें उनकी कक्षाओं में स्थापित किया है.

[38] ब्रायंट को विश्वास था कि सभी तरह के मिथक हिब्रू धर्मशास्त्र से निकले हैं. चाहे वे ईसाई परम्परा के हों, या पेगन परम्पराओं के. विलियम जोंस ने ब्रायंट के निष्कर्षों को अपनाया, लेकिन व्युत्पत्तिशास्त्र के ज़रिये उन निष्कर्षों पर पहुँचने वाली पद्धति की आलोचना की.

पहले का था। यानी, न्यूटन का आग्रह था कि ग्रीक-दर्शन और संस्कृति का उद्‌गम हिब्रू स्रोतों से मानना चाहिए। ऐसा करके वे एक तीर से दो शिकार करना चाहते थे। वे दिखाना चाहते थे कि विधर्मी (यानी पेगन या ग़ैर-ईसाई) ग्रीक अपनी प्रज्ञा के लिए हिब्रू-अवदान पर निर्भर थे, और साथ ही साबित करना चाहते थे कि ईसाइयत द्वारा प्रचलित 'डिफ़्यूज़निस्ट थीसिस' (हज़रत नूह के बेटों और उनकी संतानों के वंशवृक्ष के ज़रिये मानवता का विभिन्न इलाक़ों में फैलाव) कितनी सही है।

न्यूटन द्वारा धार्मिक और सेकुलर इतिहास को मिलाने के इस प्रयास को मिथकशास्त्री जैकब ब्रायंट ने अपनी 1774 से 1776 के बीच प्रकाशित तीन खण्डीय रचना *एनालैसिस ऑफ़ एंशिएंट मायथोलॅजी* के ज़रिये आगे बढ़ाया। न्यूटन ने जिस एमॅन को मिस्री सभ्यता का पहला संस्थापक क़रार दिया था, ब्रायंट ने तर्क दिया कि वह दरअसल 'जेनेसिस' में वर्णित नूह का बेटा हैम ही था। ब्रायंट को पक्का यक़ीन था कि मानवता और सृष्टि के प्राचीनतम क्षण का हज़रत मूसा से संबंधित विवरण ही वह परम सत्य है जिसे बहुदेववादी या मूर्तिपूजक पेगनों ने अपने मिथकशास्त्र के ज़रिये विकृत कर दिया है। उन्होंने फ़ैसला दिया कि जिस सच्चाई को ग्रीक भी नहीं समझ पाए, उसे वे व्युत्पत्तिशास्त्र (शब्दों के स्रोतों का पता लगाना) का प्रयोग करके प्रमाणित कर देंगे। इस व्युत्पत्तिशास्त्र का केंद्रीय उदाहरण एमॅन शब्द की हैम शब्द से साम्यता दिखाना था। इस तरह उन्होंने यह साबित करने का दावा किया कि स्वयं को एमॅन की संतान समझने वाले मिस्रवासी दरअसल हैम की संतान हैं (या दोनों परस्पर पर्यायवाची हैं)। इसी सिलसिले में ब्रायंट ने यह भी दिखाया कि ग्रीक, रोमन और भारतीय समेत अन्य सभी भारोपीय जन भी दरअसल हैम की संतान हैं। ब्रायंट के अनुसार नूह के बेटों में हैम ही सर्वाधिक ओजस्वी था। इसीलिए उसकी संतानों ने विद्रोही स्वभाव पाया, जिसका परिणाम पेगन धर्मों की स्थापना में निकला। ब्रायंट ने पेगन जातियों के राष्ट्रीय धर्मों को उन्होंने अपने पूर्वजों की विकृत हो चुकी स्मृति का प्रतिनिधि माना। इसी श्रेणी में उन्होंने *बाइबिल* में वर्णित क़यामत रूपी बाढ़ और बेबेल की मीनार के मिथकों को रखा। ब्रायंट की यह थीसिस असल में उस प्रचलित मोज़ेक नृजाति-विज्ञान में संशोधन करने की माँग कर रही थी जिसके तहत यूनानियों और रोमनों को जैफ़ैट की संतान और मिस्र व भारत के लोगों को हैम की संतान माना जाता था। ब्रायंट के बाद उनके हवाले से यह मानना आसान हो गया कि इंडो-युरोपीय या भारोपीय जनों का उद्‌गम एक ही पितृपुरुष हैम में निहित है और उनकी भाषाएँ (ग्रीक, लैटिन, संस्कृत वग़ैरह) एक ही वंशवृक्ष की हैं।

विलियम जोंस ने इसी परियोजना को और आगे बढ़ाने का मंसूबा लेकर भारत में क़दम रखा। इंग्लैंड से भारत आते समय 'क्रोकोडायल' नामक जहाज़ पर लिखी अपनी डायरी में उन्होंने अपने लिए एक सोलह सूत्रीय कार्यभार निर्धारित किया था। इन सूत्रों में दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर क्रमश: प्राचीन विश्व के इतिहास का पता लगाना, ईसाई धर्मशास्त्रों को सही साबित करने वाले प्रमाण और उदाहरण तलाशना, और प्रलयंकारी बाढ़ जैसे दृष्टांतों से संबंधित परम्पराओं की खोज करने के लक्ष्य दर्ज किये गये थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे ईसाई धर्मशास्त्रों की सत्यता को प्रमाणित करने की परियोजना पर काम करना चाहते थे।[39] अपने लक्ष्यों को धरती पर उतारने के लिए उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी की वर्षगाठों पर दिये गये व्याख्यानों के माध्यम से अपनी थीसिस को क्रमबद्ध रूप से संसाधित किया।[40] अपने पहले व्याख्यान में जोंस ने मानवता के इतिहास के लिए एशिया के महत्त्व पर प्रकाश डाला, और भारोपीय भाषा परिवार से संबंधित पहला केंद्रीय वक्तव्य उनके 1786 में दिये गये तीसरे 'एनिवर्सिरी डिस्कोर्स' में सामने आया। इसका शीर्षक था : 'ऑन द हिंदूज़'। इसमें

---

[39] देखें, इस सोलह सूत्रीय कार्यभार के लिए देखें, ओ.पी. केजरीवाल (1988), पूर्वोद्धृत : 29.

[40] वैसे तो विलियम जोंस का समग्र वाङ्मय तेरह खण्डों में प्रकाशित हुआ है, पर एशियाटिक सोसाइटी में दिये गये उनके व्याख्यानों के लिए देखें, सर विलियम जोंस (1824).
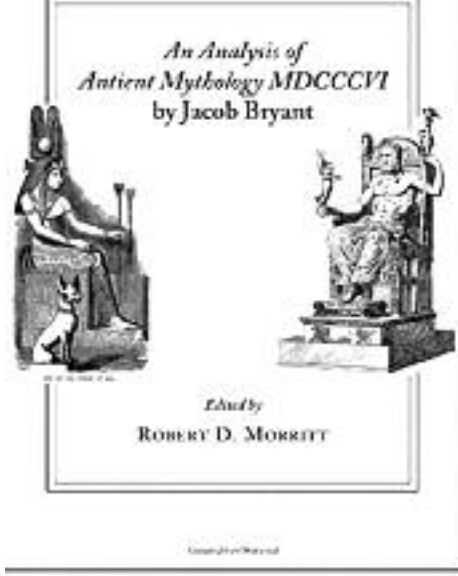
न्यूटन द्वारा धार्मिक और सेकुलर इतिहास को मिलाने के इस प्रयास को मिथकशास्त्री जैकब ब्रायंट ने अपनी 1774 से 1776 के बीच प्रकाशित तीन खण्डीय रचना *एनालैसिस ऑफ़ एंशिएंट मायथोलॅजी* के ज़रिये आगे बढ़ाया। न्यूटन ने जिस एमॅन को मिस्त्री सभ्यता का पहला संस्थापक क़रार दिया था, ब्रायंट ने तर्क दिया कि वह दरअसल 'जेनेसिस' में वर्णित नूह का बेटा हैम ही था। ब्रायंट को पक्का यक़ीन था कि मानवता और सृष्टि के प्राचीनतम क्षण का हज़रत मूसा से संबंधित विवरण ही वह परम सत्य है जिसे बहुदेववादी या मूर्तिपूजक पेगनों ने अपने मिथकशास्त्र के ज़रिये विकृत कर दिया है।

जोंस ने संस्कृत भाषा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए उसे ग्रीक, लैटिन, गॉथिक (जर्मनिक), केल्टिक और पुरानी फ़ारसी जैसी भाषाओं के साथ एक बेहद बड़ी और प्रभावशाली भाषाई श्रेणी तैयार की। इस व्याख्यान में दिया गया जोंस का निम्नलिखित वक्तव्य भाषाशास्त्रियों के लिए एक बौद्धिक किंवदंती का रूप ले चुका है :

> संस्कृत भाषा की प्राचीनता जो भी हो पर उसकी संरचना अद्‌भुत है। यह ग्रीक से अधिक दोषरहित और लैटिन से अधिक प्रचुर और दोनों से कहीं अधिक परिष्कृत है। फिर भी उन दोनों के साथ इसकी धातुओं और व्याकरण के रूपों में इतनी समानता है कि वह आकस्मिक नहीं हो सकती। यह समानता वस्तुत: इतनी अधिक है कि इन भाषाओं की छानबीन करने वाला कोई भी भाषाशास्त्री यह माने बिना नहीं रह सकता कि ये सब एक समान स्रोत से निकली हैं, जिसका सम्भवत: अब अस्तित्व नहीं रहा है। इसी तरह का एक कारण, यद्यपि यह इतना ज़ोरदार नहीं है, यह मानने के लिए भी है कि गॉथिक और कैल्टिक दोनों भाषाएँ, एक विभिन्न वाग्भंगी से मिश्रित होते हुए भी उसी स्रोत से निकली हैं जिससे कि संस्कृत निकली है। प्राचीन फ़ारसी को भी उसी परिवार से जोड़ा जा सकता है।[41]

जोंस संस्कृत की श्रेष्ठता पर विश्वास करने वाले पहले युरोपीय नहीं थे। लेकिन, उनसे पहले के युरोपीय संस्कृतज्ञों की बौद्धिक योजना केवल इस भाषा और उसके साहित्य को समझने की थी। जोंस का इरादा इससे परे कुछ और था। न्यूटन और ब्रायंट से आगे बढ़ते हुए वे दुनिया के सबसे बड़े महाद्वीप एशिया के पाँच प्रमुख राष्ट्रों (भारतीय, चीनी, तातार, अरब और फ़ारस) की परस्पर समानताओं, भिन्नताओं और उनके उद्‌गम को निर्धारित करना चाहते थे। शुरू से ही उनकी खोज थी कि क्या इन राष्ट्रों का कोई एक समान उद्‌गम भी हो सकता है? और, अगर ऐसा कोई समान उद्‌गम है, तो क्या वह वही है जो *बाइबिल* के 'जेनेसिस' वाले हिस्से में दर्ज है? यह पता लगाने के लिए जोंस ने अपने अगले वार्षिक प्रवचनों में भाषा-साहित्य, धर्म-दर्शन, वास्तु-शिल्प और कला-विनिर्माण की दुहैरी धुरियों पर अपनी व्याख्याएँ आयोजित कीं। एशिया और युरोप के बीच समानता की खोज में जोंस का मुख्य औज़ार था भाषा। वे इन राष्ट्रों की भाषाओं में पाए जाने वाले सजातीय शब्दों के

---

[41] जोंस के इस विख्यात उद्धरण के कई अनुवाद उपलब्ध हैं. यह अनुवाद उदय शंकर (2020) : 163 का तनिक संशोधित रूप है.

ज़रिये कुछ निष्कर्षों पर पहुँचना चाहते थे। शाब्दिक सजातीयता के साथ-साथ वे व्याकरण की संरचनाओं में दिखने वाली समानता के ज़रिये भी अपने निष्कर्षों की पुष्टि करने के इच्छुक थे। यहाँ जोंस के चिंतन की एक प्रवृत्ति उल्लेखनीय है जो अठारहवीं सदी की युरोपीय विद्वत्ता में भी दिखाई पड़ती है। यह है *बाइबिल* और 'जेनेसिस' को एक 'ओरिएंटल टेक्स्ट' की तरह देखना। जोंस को लगता था कि 'जेनेसिस' की लेखन-शैली 'पौर्वात्य साहित्य की अलंकार प्रधान शैली' की झलक देती है। इन तीनों पहलुओं का मिला-जुला प्रभाव यह पड़ा कि जोंस के विमर्श की इस 'तथ्यात्मकता' ने बहुत जल्दी ही युरोप के विद्वत्समाज पर अपनी धाक जमा ली।

नौवें प्रवचन (इसका शीर्षक था : 'ऑन द ओरिजिन ऐंड फ़ेमिलीज़ ऑफ़ नेशंस— फ़िलॉसॅफ़िकल प्रपोज़ीशन ऑफ़ द होल ऑफ़ मैनकाइंड प्रोसीडिंग फ़्रॉम वन पेयर ऑफ़ अवर स्पेशीज़— ऑब्ज़र्वेशन ऑफ़ द बुक ऑफ़ मोज़ेज़— द एस्टब्लिशमेंट ऑफ़ द ऑनली ह्यूमन फ़ेमिली ऑफ़्टर द डिल्यूज, ऐंड इट्स डिफ़्यूज़न') में उन्होंने अपना बिब्लिकल परिप्रेक्ष्य एकदम साफ़ कर दिया। यहाँ उल्लेखनीय है कि जोंस की प्रशंसा में लिखा गया साहित्य कोशिश करता है कि किसी तरह इस नौवें प्रवचन के बिब्लिकल आधार को प्रबलता के साथ रेखांकित न किया जाए।[42] उन्होंने 'जेनेसिस' में दर्ज सृष्टि-रचना की कहानी का अनुपालन करते हुए यक़ीन ज़ाहिर किया कि सारी मानवता आदम और हव्वा के मूल जोड़े से निकली है, और प्रलयंकारी बाढ़ के बाद इंसानियत के बचे हुए अंशों का केंद्र ईरान में था। वहीं से इंसानी नस्ल सारी दुनिया में तीन प्रमुख नस्लों के रूप में फैल गयीं। ये थीं : ईरानी और भारतीय (ग्रीक, रोमन, गोठ, मिस्री, और सम्भवतः चीनी और जापानी समेत) नस्ल, यहूदी और अरब नस्ल, एवं तातार नस्ल। जोंस ने इन तीनों नस्लों का नाता हज़रत नूह के बेटों से जोड़ा, और साथ ही उनके बीच भाषाई सूत्र भी दिखाए।

ट्राउटमान के हवाले से हम देख चुके हैं कि इस प्रकार की एथ्निक थियॉलॅजी के कारण जो भाषा-विज्ञान पैदा हुआ, वह आज तक एक विश्वसनीय शास्त्र की तरह जमा हुआ है। जोंस का निष्कर्ष यह था कि फ़ारसी और चीनी राष्ट्र मूल उद्गम से उपजे एशियाई राष्ट्र न हो कर हिंदू या भारतीय राष्ट्र की शाखाएँ हैं। यानी, उनकी निगाह में मूल उद्गम से केवल भारतीय, अरब और तातार राष्ट्र ही उपजे थे। इसके बाद उन्होंने मोज़ेक नृजाति-विज्ञान लागू करते हुए उन्हें हज़रत नूह के तीन बेटों (भारतवासियों को हैम, अरबों को शैम और तातारों को जैफ़ेट) की संतान क़रार दे दिया। इस तरह स्पष्ट हो गया कि वे नव-प्राच्यवादी विद्वत्ता के ज़रिये मिली सामग्री का इस्तेमाल *बाइबिल* में मोज़ेक एथ्नॉलॅजी के माध्यम से दर्ज मनुष्यता के प्राचीन इतिहास की तथ्यगत सच्चाई प्रमाणित करने के लिए करना चाहते थे। ब्रायंट और जोंस की युक्तियों में अंतर यह था कि ब्रायंट ने यह काम व्युत्पत्तिशास्त्रीय अटकलों की मदद से करने की कोशिश की थी, जबकि जोंस ने इस युक्ति की सीमाओं की आलोचना करते हुए यही काम शब्द-सजातीयता से करना उचित समझा। जोंस को यक़ीन था कि उनकी बात ज़्यादा सही है, क्योंकि वे संस्कृत में निष्णात हैं और ब्रायंट केवल हिब्रू ही जानते थे। दूसरे, विद्वत्समाज को यह भी लगा कि फ़ारसी स्रोतों से भी जोंस की बात सही साबित की जा सकती है। दरअसल, यहाँ फ़ारसी स्रोत बहुत अहम थे, क्योंकि 'जेनेसिस' में तो भारत या हिंदुओं का ज़िक्र ही नहीं था। ध्यान रहे कि संस्कृत सीखने से पहले जोंस मुख्य रूप से फ़ारसी के ही जानकार थे, और उन्होंने फ़ारसी की कुछ पुरानी रचनाओं का अनुवाद करके अपनी शुरुआती प्रतिष्ठा हासिल की थी। मुहम्मद क़ासिम फ़िरिश्ताह द्वारा लिखा गया फ़ारस का इतिहास, और अबुल फ़ज़्ल रचित

---

[42] ओ.पी. केजरीवाल (1988), पूर्वोद्धृत ने इस पहलू को सिर्फ़ एक पैरे में निबटा दिया है : 68-69. केजरीवाल का ज़ोर यह बताने पर है कि भले ही जोंस के विचार और निष्कर्ष अपरिपक्व खोजों पर आधारित रहे हों, लेकिन उन पर की गयी टिप्पणियों में उन्हें 'इंजीनियस' क़रार दिया गया है.
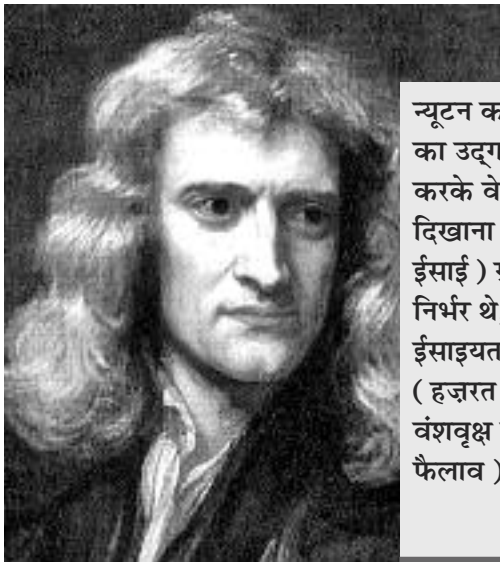
न्यूटन का आग्रह था कि ग्रीक-दर्शन और संस्कृति का उद्‌गम हिब्रू स्रोतों से मानना चाहिए। ऐसा करके वे एक तीर से दो शिकार करना चाहते थे। वे दिखाना चाहते थे कि विधर्मी (यानी पेगन या ग़ैर-ईसाई) ग्रीक अपनी प्रज्ञा के लिए हिब्रू-अवदान पर निर्भर थे, और साथ ही साबित करना चाहते थे कि ईसाइयत द्वारा प्रचलित 'डिफ़्यूज़निस्ट थीसिस' (हज़रत नूह के बेटों और उनकी संतानों के वंशवृक्ष के ज़रिये मानवता का विभिन्न इलाक़ों में फैलाव) कितनी सही है।

अकबरनामा में मोज़ेक एथ्नॉलॅजी अधिक विस्तार से मिलती है। इनमें बाक़ायदा हिंद, सिंध और हाबिश (अबीसीनिया) को हैम का वंशज बताया गया है।[43]

जोंस ने दिखाया कि हज़रत नूह ने मानवता के बचे हुए तत्त्वों को ले कर जब अपनी किश्ती चलाई थी, उसी के कुछ समय बाद राम ने भारतीय सभ्यता की स्थापना की थी। उनकी निगाह में *बाइबिल* का कुस राम के पुत्र कुश के, राम शब्द स्वयं रामाह के, मिज़्राइम शब्द मिस्र के और पूर्वी भारत में मिलने वाले ब्राह्मणों के जातिसूचक उपनाम मिश्र के सदृश्य था। जोंस द्वारा निकाले गये कई निष्कर्ष आज के पाठकों को मनोरंजक लग सकते हैं, लेकिन अठारहवीं सदी के आख़िरी वर्षों में उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा की संरचना-निर्मिति में इन *बाइबिल* आधारित अनुमानों की बेहद अहम भूमिका थी। जोंस के साथ काम करने वाली पण्डितों की मण्डली उनके इस उद्यम से बहुत प्रभावित थी, और कई मामलों में उनकी हाँ में हाँ मिलाती थी। मसलन, जब जोंस ने कहा कि मनु के धर्मशास्त्र में जिन 'सिना' का ज़िक्र आया है, वे दरअसल वैदिक धर्म से भ्रष्ट हुए क्षत्रिय हैं जो बंगाल के उत्तर-पश्चिम में रहने चले गये और चीनी राष्ट्र बन गये। पण्डितों ने जोंस का यह प्रस्ताव भी मान लिया कि मैक्सिको और पेरू की सभ्यताएँ दरअसल हिंदुओं की उपनिवेश थीं, और अमेरिकी महाद्वीप के घुमक्कड़ इंडियन तातार थे। हिंदी और ब्रज के बारे में जोंस ने दावा किया कि बेहद प्राचीन काल में उत्तर भारत पर हुए संस्कृतभाषियों (यानी आर्यों) के आक्रमण के परिणामस्वरूप इन भाषाओं में संस्कृत शब्द शामिल कर दिये गये (यानी जोंस के अनुसार संस्कृत के हावी होने से पहले की हिंदी कुछ और थी, और संस्कृत ने एक नयी हिंदी बना दी)। नतीजतन, जोंस के अनुसार, इन भाषाओं के छह में से पाँच शब्द संस्कृत से व्युत्पन्न हैं।

सत्रहवीं सदी में ही प्रोटेस्टेंट आर्कबिशप उशर ने बिब्लिकल गणनाओं के माध्यम से दावा कर दिया था कि हज़रत नूह वाली बाढ़ ईसापूर्व 2349 में आयी थी, और ईश्वर ने संसार की रचना ईसापूर्व 4004 में की थी। ब्रिटिश प्रोटेस्टेंट होने के नाते जोंस इसी समयावधि में मानवता के प्रसार को दिखाना

---

[43] देखें, टोनी बैलेंटाइन (2002), पूर्वोद्धृत : 28, और थॉमस आर. ट्राउटमान (1997), पूर्वोद्धृत : 53-54.

चाहते थे। भारतीय सभ्यता इतनी प्राचीन थी जिसका इतिहास ईसा से चार हज़ार साल से बहुत पहले जाता था। लेकिन, इसी सीमित बिब्लिकल समय को सर्वोपरि बताने के लिए उन्होंने अनंत आवृत्ति वाले समय के महाचक्रों की भारतीय अवधारणा को ख़ारिज कर दिया, ताकि उनके ईसाई सत्य को किसी तरह की ठेस न लगे। जोंस ने भारत के ज़रिये बिब्लिकल सत्य को परम और सर्वकालीन-सार्वभौम सत्य का दर्जा देने के लिए पुराणों की मदद ली। विष्णु के दशावतारों में उन्हें दुष्टता के दलन के लिए ईश्वर के धरती पर उतरने की ईसाई कहानी के प्रमाण दिखे। *पद्म पुराण* में उन्हें बाढ़ की कहानी मिल गयी जिसे उन्होंने तत्परता से नूह की बाढ़ के साथ जोड़ दिया। बाढ़ के साथ ही मत्स्यावतार, वराहावतार और कूर्मावतार की कहानी भी उन्हें उपयोगी लगी। उनके लिए आदम का मतलब था मनु-प्रथम (4004 ई.पू.), नूह का मतलब था मनु-द्वितीय (2948 ई.पू.), बाढ़ यानी मत्स्य, कूर्म और वराह के अवतार (2349 ई.पू.), निमरॉड यानी नरसिंह अवतार (2217 ई.पू.), बेल यानी बाली (2015 ई.पू.) और रामाह यानी पहले राम (2028 ई.पू.) और फिर बुद्ध (1026 ई.पू.)। *बाइबिल* के किरदारों को हिंदू पौराणिक किरदारों का सजातीय बताने के साथ-साथ जोंस को न्यूटन-ब्रायंट थीसिस के माध्यम से यह दावा करने का मौक़ा मिल गया कि पेगन धर्मों और प्राचीन खगोलशास्त्र के बीच एकात्मकता थी, और ईसाई धर्म से पहले की सभी प्राचीन उन्नत सभ्यताएँ असल में नूह के बेटे हैम की वंश-परम्परा पूर्व कड़ी में ही थीं। इस लिहाज़ से जोंस ने हिंदू धर्म को हैम के वंश से जुड़ी लेकिन व्यतीत हो चुकी ग्रीक और रोमन सभ्यताओं के जीवित चचाज़ाद भाई की तरह पेश किया। भारत, रोम और यूनान के बीच समानताओं का विस्तृत संधान वे 1784 में लिखे अपने एक लेख 'ऑन द गॉड्स ऑफ़ ग्रीस, इटली ऐंड इंडिया' में कर ही चुके थे। इस लेख में उन्होंने ग्रीको-रोमन देवताओं और हिंदू देवताओं के बीच सजातीयता दिखाई थी।[44]

इस मुक़ाम पर एक सवाल पूछना मुनासिब होगा कि आख़िर न्यूटन, ब्रायंट और जोंस के सिलसिले से जो बौद्धिक परियोजना निकली, उसका मक़सद क्या था? इस विद्वत्ता के पीछे *बाइबिल* की बातों को परम सत्य की तरह पुष्ट करने का उद्देश्य किसी को भी दिखाई पड़ सकता था। लेकिन, उम्बर्तो ईको ने 1995 में प्रकाशित अपनी रचना *द सर्च फ़ॉर द परफ़ेक्ट लेंग्वेज* में दलील दी है कि युरोपीय विद्वानों द्वारा चलाई गयी नाना प्रकार की भाषाई परियोजनाओं को दरअसल एक उत्तम, दोषरहित और सम्पूर्ण भाषा की खोज के विभिन्न संस्करणों की तरह भी देखा जाना चाहिए। एक 'परफ़ेक्ट' भाषा उपलब्ध करने की उनकी इस चिंता का स्रोत उस युग में देखा जा सकता है जब लैटिन का क्षय हो रहा था, और रोमनों के क़ब्ज़े और लैटिन प्रभाव वाले युरोप की देशभाषाओं का उदय हो रहा था। पश्चिमी बुद्धिजीवियों को इन उदीयमान भाषाओं पर ज्ञान-विज्ञान और ईसाइयत की वाहक रही लैटिन जैसा भरोसा नहीं था। यद्यपि आगे चल स्पेनी, इतालवी, जर्मन, फ्रांसीसी और पुर्तगीज़ और जर्मनिक मूल की अंग्रेज़ी के विकास ने उनकी इस दुश्चिंता को ग़लत साबित किया।[45]

दूसरे, न्यूटन-ब्रायंट-जोंस की तिकड़ी के विमर्श ने युरोपीय विद्वत्ता के लिए कई तरह के रास्ते खोले। सबसे पहले उन्होंने (ख़ासकर जोंस ने) युरोप को बताया कि संस्कृत लैटिन और ग्रीक के

---

[44] भारोपीय भाषा परिवार के इस विवरण को और विस्तार से जानने के लिए देखें, ट्राउटमान (1997). सीधे विलियम जोंस के ज़रिये जानने के लिए नमूने के तौर पर देखें, सर विलियम जोंस (1792/1996) : 40-50.

[45] ख़ास बात यह थी कि एक तरफ़ तो यह दुष्चिंता थी, और दूसरी तरफ़ युरो-क्रिश्चियनिटी के बौद्धिक पुरोधाओं और अन्य बुद्धिजीवियों द्वारा *बाइबिल* का संदेश फैलाने के साथ-साथ विमर्श-निर्मिति के लिए अपनी देशभाषाओं (जिन्हें वे वर्नाकुलर कहते थे) को तैयार करने के आग्रह भी सामने आ रहे थे. प्रोटेस्टेंट धर्म के संस्थापक मार्टिन लूथर द्वारा सोलहवीं सदी में *बाइबिल* के जर्मन भाषा में अनुवाद के बाद ईसाइयत को मिला सार्वजनिक उछाल इसके सबसे बड़े उदाहरण के रूप में देखा जाता था. एक तरह से कहा जा सकता है कि लैटिन के चलन से बाहर होते चले जाने से संबंधित चिंताओं की यह अंतिम सदी थी इसीलिए इन चिंताओं की छाया बेकन और देकार्त के विमर्श में देखी जा सकती है. लेकिन जॉन लॉक तक आते-आते सत्रहवीं सदी में देशभाषा (जैसे, अंग्रेज़ी) में विमर्श-निर्मिति को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी थी.
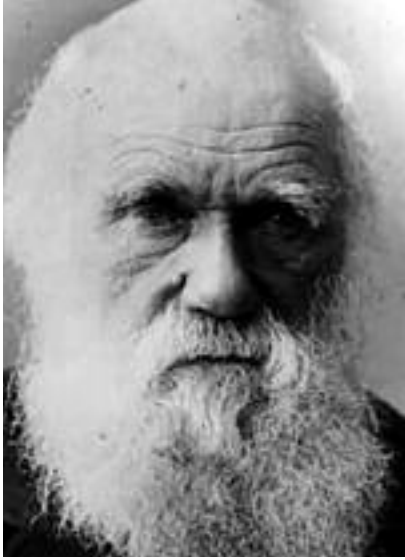
डार्विन ने भी युरोप के बिब्लिकल चिंतन से निकली भाषा-राष्ट्र परियोजना से प्रेरणा ग्रहण की थी, '... अगर हमें मानवता की पूरी तरह से त्रुटिहीन वंशावली उपलब्ध करनी है तो इंसानी नस्ल का वंशानुगत विन्यास तैयार करना होगा, और उसके लिए सारी दुनिया में बोली जाने वाली नाना प्रकार की भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ेगी। ... एक ही वंश की भाषाओं के बीच भिन्नता के स्तरों को समूहों के अधीन समूहों के माध्यम से व्यक्त करना होगा, लेकिन उस सूरत में भी समुचित या एकमात्र सम्भव विन्यास को वंशानुगत आधार पर ही तैयार करना होगा।'

समान एक क्लासिक भाषा है। इसके बाद ग्रीक और लैटिन के अध्ययन की युरोपीय परम्परा में संस्कृत का अध्ययन भी जुड़ गया। युरोपियनों ने मान लिया कि प्राचीन काल में भारत, ईरान और यूनान का साभ्यतिक, ज्ञानात्मक और सांस्कृतिक स्रोत एक ही था (इससे पहले माना यह जाता था कि यूनानियों को ज्ञान का सूत्र मिस्र और फ़ोनेशिया से मिला होगा)। तीसरे, युरोपीय विद्वत्ता ने दिखाया कि भारत की सभी भाषाएँ चिरंतन, अपरिवर्तनीय और सर्वोत्तम भाषा संस्कृत से निकली हैं और उसी की थोड़ी या ज़्यादा बिगड़ी हुई संतानें हैं। थमाए गये उपनिवेशवादी ज्ञान के प्रभाव में भारतीय बौद्धिकों के अधिकांश हिस्से और राष्ट्रवादी नेतृत्व ने यह मान्यता पूरी तरह से गले उतार ली। ऊपर बताया जा चुका है कि नव-प्राच्यवादियों ने जिन भारतीय पण्डितों से संस्कृत सीखी थी, उनका दावा था कि संस्कृत भारत ही नहीं बल्कि दुनिया की सभी भाषाओं की माँ है। नव-प्राच्यवादी युरोपीय विद्वानों ने दिखाया कि 'कोलोनियल कंडीशन' के तहत भारतीय शिक्षक नहीं बल्कि ज्ञान के बारे में आख़िरी फ़ैसला करने का अधिकार उनके पश्चिमी छात्रों के पास सुरक्षित था।

भारतीय भाषा परिवार के कलकत्ता में किये गये इस सूत्रीकरण में इंग्लैंड और युरोप के विद्वत्समाज ने गहरी रुचि दिखायी। एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका *एशियाटिक रिसर्चेज़* का पहला अंक 1789 में प्रकाशित हो कर इंग्लैंड पहुँचा। रेमंड श्वाब के अनुसार इस पत्रिका का प्रसार-प्रचार इंग्लैंड, जर्मनी और फ्रांस में असाधारण रफ़्तार से हुआ, लेकिन इसके प्रथम अंक से काफ़ी पहले ही जोंस को जानने वाले बौद्धिकों के बीच उनके व्याख्यानों की चर्चा शुरू हो चुकी थी। दरअसल, जोंस युरोप में फैले अपने मित्रों और जानकारों को लगातार पत्र लिखते रहते थे। इस ज़रिये उन्हें वनस्पति विज्ञान से लेकर संस्कृत तक और संगीत से हिंदू विधिशास्त्र तक नाना प्रकार के विषयों पर अनुसंधानपरक परामर्श मिलता रहता था। उनके इस नियमित और प्रचुर पत्र-व्यवहार के फलस्वरूप जेम्स बरनेट (लॉर्ड मोनबोडो), जोसेफ़ बैंक्स, एडमंड बर्क और जोसेफ़ कूपर वाकर जैसी हस्तियाँ भारोपीय भाषा परिवार और उसकी व्याख्याओं से परिचित हो चुकी थीं। यद्यपि अपनी इस प्रतिष्ठा का उपभोग करने से पहले ही जोंस का निधन हो गया, लेकिन भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा, संस्कृत और उसके साहित्य की श्रेष्ठता, आर्य-श्रेष्ठता एवं 'जेनेसिस' की भारतीय पुराणकथाओं के ज़रिये होने वाली पुष्टि ने युरोपीय चिंतन को एक नयी राह पर डाल दिया। *एशियाटिक रिसर्चेज़* में छपे जोंस के लेखों का जर्मन भाषा में योहान क्ल्यूकर द्वारा किया गया अनुवाद 1795 से जर्मनी में पढ़ा जाने लगा। कालिदास के नाटक *अभिज्ञानशाकुंतल* के जोंस द्वारा किये गये लैटिन

अनुवाद को जैसे ही जॉर्ज फ़ोर्स्टर ने जर्मन में पेश किया, वैसे ही ट्राउटमान की भाषा में कहें तो युरोप में 'इंडोमीनिया' की शुरुआत हो गयी। *शकुंतला* की जर्मन प्रति हर्डर को मिली और वे इस नाटक के मनमोहक सौंदर्य से स्तब्ध हो गये। फ़ोर्स्टर के अनुवाद के दूसरे संस्करण की भूमिका हर्डर ने ही लिखी। इसके बाद जर्मन रोमांटिसिज़्म के साथ जुड़े विद्वानों को तक़रीबन यक़ीन हो गया कि जर्मनी का आध्यात्मिक नवीकरण जोंस और कोलब्रुक जैसे नव–प्राच्यवादियों द्वारा प्रस्तुत संस्कृत और आर्य–केंद्रीयता से ही सम्भव है। जर्मन प्राच्यवाद की नींव इसी जगह से पड़ी जिसके शीर्ष पर पहले श्लेगल (जो मानने लगे थे कि हर सुंदर और सार्थक चीज़ का स्रोत भारत में ही है) रहे और बाद में इसकी कमान मैक्स मुलर ने सँभाली।[46] हाल ही में शेल्डन पोलोक ने अपने लेख 'डीप ओरिएंटलिज़्म' में दिखाया है कि बीसवीं सदी में 'इंडो–जर्मन' बनाम 'सेमाइट' के द्विभाजन का उद्‌गम भी इसी जगह निहित था। यहीं से नाज़ियों ने जर्मन–ओरिएंटलिज़्म का प्रयोग करके अपने 'आंतरिक उपनिवेशवाद' की रचना की, और यहीं से आर्य–श्रेष्ठता का दृष्टिकोण निकला जो उनके नव–कल्पित नैशनल सोशलिस्ट साम्राज्य के केंद्र में था।[47]

इस विमर्श की असंदिग्ध अभिव्यक्तियाँ बीसवीं सदी में अमेरिकी भाषा–विज्ञानी लियोनार्ड ब्लूमफ़ील्ड की रचना *लेंग्वेज* में सुनाई पड़े :

> विजेताओं का अपेक्षाकृत एक छोटा–सा समूह भारत में इंडो–आर्यन भाषा लाया होगा, और शासक जाति द्वारा अपना आधिपत्य स्थापित करने के सुदीर्घ क्रम में विजितों को उसे ग्रहण करने पर बाध्य किया होगा। जिन भाषाओं ने अपना स्थान खो दिया, उनमें से कम से कम कुछ भाषाएँ भारत की वर्तमान अनार्य— मुख्यतः द्रविड़–भाषानिधि— की संबंधिनी रही होंगी।[48]

भारत में सुनीति कुमार चाटुर्ज्या इस आख्यान के प्रभावशाली पैरोकार की तरह सामने आये। ब्लूमफ़ील्ड और उनके बीच अंतर केवल यह था कि उन्होंने आर्यों के भारत–आगमन को आक्रमण के बजाय सदियों तक हुए आव्रजन का परिणाम माना :

> आर्य जन भारोपीय भाषाभाषी अर्थ–यायावर जनों के ही अंग थे जिन्होंने कम से कम ईसा से 3000 वर्ष पूर्व अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण कर लिया था। किन्हीं कारणों से, जिनका हमें पता नहीं है, मूल भारोपीय जनों का विविध वैभाषिक समुदायों (डाइलेक्ट ग्रुप्स) में विघटन हो गया और वे अपने नये आवास की तलाश में अपने पैतृक देश को छोड़ कर पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की ओर चल पड़े। दो हज़ार ख्रिस्ताब्द पूर्व ही एक जत्था अलग हो कर बिखर गया था और ज़ाहिर है कि वह काकेशस के मार्ग से हो कर एशिया माइनर आया था और वहाँ ख्रिस्ताब्द पूर्व 1500 में इसी जत्थे ने प्राचीन नेसियन अथवा हित्ती राष्ट्र का रूप ले लिया। हम जो कुछ जानते हैं उसके आधार पर उनका एशिया माइनर की ओर का मार्ग काकेशस से न हो कर मोल्दाविया, बल्लाशिया, रूमानिया और बुल्गारिया तथा थ्रेसिया से हो कर भी गुज़रा हो सकता है ... अपनी अविभाजित अवस्था में वे जिस क्षेत्र में फैले थे उसके विषय में बहुत क्षीण अटकलबाज़ियाँ ही हो सकती हैं। ... ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले जब आदिम भारोपीय जन कमोबेश एक ही जन थे और एक ही भाषा बोलते थे, वे टूट कर क़बीलों में बँट गये, जिन्होंने अपनी विशिष्ट बोलियों का विकास किया। यह अटकल लगाया जा सकता है कि 2000 ख़्रिस्ताब्द पूर्व के लगभग कतिपय प्रधान वैभाषिक भेद अस्तित्व में आ चुके थे। ... हम अनुमान लगा सकते हैं कि एकल आदिम भारोपीय यदि और पहले नहीं तो 2500 ख्रिस्ताब्द पूर्व में ही टूट कर बोलियों में या अपने बहुत पुराने क़बीलों में बँट गये थे। ... भारत में आर्य अर्धयायावर या अर्धखेतिहर जनों के रूप में आये थे। ... यूराल पर्वत के दक्षिण–पश्चिमी यूरेशिया में स्थित चरागाहों से अपने विस्तृत मूल–निवास से वे कई शताब्दियों तक धीरे–धीरे तब

---

[46] देखें, टोनी बैलेंटाइन (2002), पूर्वोद्धृत : 32–33; इस विवरण का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत रेमंड श्वाब (1984) भी है.

[47] देखें, शेल्डन पोलोक (1993), 'डीप ओरिएंटलिज़्म ? नोट्स ऑन संस्कृत ऐंड पॉवर बियांड द राज' : 76–133.

[48] ब्लूमफ़ील्ड का यह उद्धरण रामविलास शर्मा (2002, पाँचवाँ संस्करण) : 17 से.

मैक्स मुलर ने सुंदर नासिका (नाक) वाले इंद्र (जो दस्युओं के संहारक हैं) और चपटी या लुप्तप्राय नासिका वाले दस्युओं के बीच अंतर को रेखांकित किया। इस तरह मैक्स मुलर ने भारतीय सभ्यता के (और इस लिहाज़ से मानव-जाति के) सबसे पुराने लिखित प्रमाण ऋग्वेद में सुंदर, असुंदर या लुप्तप्राय नासिका के महत्त्व की तरफ़ इशारा कर दिया। ख़ास बात यह है कि यह इशारा आर्य-अनार्य संघर्ष के संदर्भ में किया गया था। चूँकि ऋग्वेद के जिन मंत्रों के आधार पर मैक्स मुलर ने ये बातें कही थीं, वे कम से कम एक और ज़्यादा से ज़्यादा तीन थे, इसलिए इस न के बराबर आधार सामग्री से निकाले गये निष्कर्षों को वे ज़्यादा दूर तर नहीं खींच सकते थे। लेकिन, उन्होंने जितना कहा था, वह वेदों की नस्लवादी व्याख्या की बुनियाद डालने के लिए पर्याप्त साबित हुआ।

> तक बढ़ते रहे थे, जब तक वे ईरान और भारत में नहीं पहुँच गये। ... भारत में आने वाले आर्यों को अपनी दीर्घ यात्रा में, 2200 ख्रिस्ताब्द पूर्व से 1500 ख्रिस्ताब्द पूर्व तक, लगभग 700 वर्ष लगे।[49]

भगवान सिंह ने अपनी बेहतरीन रचना आर्य-द्रविड़ भाषाओं का अंतर्संबंध में सुनीतिबाबू के इस लम्बे अवलोकन को 'अटकल और प्रतीति' पर आधारित क़रार दिया है। भाषाशास्त्र से गहरा संबंध न रखने वाला पाठक भी इस उद्धरण को पढ़ कर भगवान सिंह से सहमत होगा। दरअसल, डॉ. चाटुर्ज्या के इन विचारों की पृष्ठभूमि तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक मद्रास के नव-प्राच्यवादी मंच पर किये गये द्रविड़ भाषा परिवार के सूत्रीकरण को न समझ लिया जाए। उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के सिक्के का एक पहलू अगर भारोपीय भाषा परिवार था, तो दूसरा द्रविड़ भाषा परिवार।

द्रविड़ भाषा परिवार

इस भाषा परिवार का सूत्रीकरण जिस बौद्धिक माहौल में हुआ, वह ब्रिटिश नव-प्राच्यवादियों की कलकत्ता स्थित मण्डली और ब्रिटिश नव-प्राच्यवादियों की मद्रास स्थित मण्डली के बीच होने वाली बहस से बना था। इस विवादात्मकता के तीन केंद्र थे : उत्तर बनाम दक्षिण, संस्कृत बनाम तमिल और भारत की भाषिक एकता बनाम भाषिक अनेकता। कहना न होगा कि मद्रास के नव-प्राच्यवादी कलकत्ता स्थित नव-प्राच्यवादियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए यह बहस चला रहे थे। न केवल भाषा परिवारों की धारणा उन्हें वहाँ से मिली थी, बल्कि भारत को आर्यों और द्रविड़ों में बँटा हुआ देखने का आग्रह भी उन्हें वहीं से प्राप्त हुआ था। मद्रास के सभी प्रमुख नव-प्राच्यवादी एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य भी थे, और उनमें से कुछ तो भारतीय शब्दों को अंग्रेज़ी में लिखने की विलियम जोंस द्वारा बताई गयी पद्धति पर ही अमल करते थे (जैसे, तेलूगू के बजाय तेलुगु)। दोनों क़िस्म के नव-प्राच्यवादी अपनी दावेदारियों के समर्थन में पण्डितों और शास्त्रियों के कथनों का उल्लेख कर रहे थे।

इन समानताओं के बावजूद मद्रास के नव-प्राच्यवादियों को लगता था कि कलकत्ता स्थित उनके अग्रजों का दक्षिण भारत के बारे में मत सही नहीं है, और उसका प्रतिवाद ज़रूरी है। इस विवाद का पहला विस्फोट तब हुआ जब 1814 में बैप्टिस्ट मिशनरी विद्वान और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में बांग्ला,

---

[49] यह उद्धरण प्रोफ़ेसर चाटुर्ज्या (1968) से. भगवान सिंह (2013), भगवान सिंह (2013) : 20-21 में उद्धृत. एक और संबंधित रचना देखें, सुनीति कुमार चटर्जी (1942).

मराठी और संस्कृत के प्रोफ़ेसर विलियम कैरी (1761–1834)[50] द्वारा रचित तेलुगु भाषा के व्याकरण *अ ग्रामर ऑफ़ द तेलिंगाना लेंग्वेज* का कलकत्ता से प्रकाशन हुआ। इसके उत्तर में ए.डी. कैम्पबेल[51] ने दो साल बाद तेलुगु का अपना व्याकरण *अ ग्रामर ऑफ़ तेलूगू लेंग्वेज* प्रकाशित किया। इसकी भूमिका फ्रांसिस व्हाइट एलिस ने लिखी। इन दोनों ब्रिटिश अफ़सरों के जीवन का अधिकांश समय दक्षिण भारत में ही बीता था। इन दोनों नव-प्राच्यवादियों ने कोलब्रुक और कैरी की प्रस्थापनाओं का खण्डन करते हुए स्थापित किया कि दक्षिण भारतीय भाषाएँ भारोपीय भाषा परिवार की अंग नहीं हैं और उन्हें एक अलग द्रविड़ भाषा परिवार के तौर पर देखा जाना चाहिए। इस दलील के केंद्र में तेलुगु में पाए जाने वाले देश्य (स्थानीय मूल के) शब्द थे जिनकी धातुएँ एलिस और कैम्पबेल के मुताबिक़ संस्कृत की धातुओं से नहीं निकली थीं। धातु को आधार बना कर भाषाओं का संबंध खोजने की यह पद्धति इन विद्वानों ने भारत की व्याकरण-सैद्धांतिकी से ही प्राप्त की थी। कैरी का कहना था कि तेलुगु के देश्य शब्दों का उद्गम निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका संस्कृत से संबंध नहीं है और न ही वे व्याकरण के नियमों के अनुसार निर्धारित किये जा सकते हैं। कैम्पबेल का तर्क था कि 'देश' का मतलब है कंट्री या रीज़न। इस लिहाज़ से देश्य शब्दों का उद्गम उस क्षेत्र में तलाशना चाहिए जहाँ वह भाषा बोली और लिखी जाती है। कैम्पबेल यह मानने को तैयार थे कि तेलुगु में किसी भी दक्षिण भारतीय भाषा के मुक़ाबले संस्कृत-उद्गम के शब्द अधिक हैं, लेकिन उनका दावा था कि उसके ज़्यादातर शब्द देश्य हैं जिनसे इस भाषा को एक मौलिक संरचना प्राप्त हुई है जो संस्कृत से पूरी तरह भिन्न है। कैम्पबेल ने पूरे यक़ीन से कहा कि यह भिन्नता इस भाषा की रूपावली और वाक्य-रचना से भी इतनी अधिक स्पष्ट होती है कि तमिल और कन्नड़ के विद्वानों को इसकी प्रतीति तुरंत हो जाएगी।

इसी मुक़ाम पर कैम्पबेल ने तेलुगु और संस्कृत के संबंधों की तुलना अंग्रेज़ी के साथ लैटिन और ग्रीक के संबंधों के साथ की। उनका मंतव्य यह दिखाने का था कि जिस तरह विज्ञान, धर्म और विधि से संबंधित शब्दों और पदों को अंग्रेज़ी ने इन दोनों क्लासिक भाषाओं से लिया है, उसी तरह तेलुगु में आये संस्कृत के अधिकतर शब्द इन्हीं क्षेत्रों के भाववाचक शब्द और पद हैं जिनका रूप इस दक्षिण भारतीय भाषा में आ कर काफ़ी-कुछ बदल गया है। अपनी थीसिस के पक्ष में कैम्पबेल ने गुज़रे ज़माने के कुछ तेलुगु वैयाकरणों के कथनों को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया, और कैरी पर आरोप लगाया कि तेलुगु को संस्कृत की पुत्री बना कर उन्होंने इन मान्यताप्राप्त विद्वानों के विमर्श का उल्लंघन किया है। कैम्पबेल ने तेलुगु के एक ऐसे इतिहास का भी ज़िक्र किया जो संस्कृत के प्रभाव से पूरी तरह अछूता था। उन्होंने दावा किया कि राजा आंध्ररायडु द्वारा गोदावरी के तट पर अपनी राजधानी बनाने से पहले जो तेलुगु भाषा प्रचलित थी, वह पूरी तरह से देश्य शब्दों से ही बनी थी।

ध्यान रहे कि कैरी तेलुगु व्याकरण लिखने से पहले संस्कृत के व्याकरण पर अपनी रचना में दावा कर चुके थे कि हिंदुस्तानी, तमिल, गुजराती और मलयाला (मलयालम) तो साफ़ तौर से संस्कृत से ही निकली हैं (यद्यपि पहली दो में बहुत से विदेशज शब्द भी हैं), लेकिन बांग्ला, ओड़िया, मराठी, कन्नड़ और तेलुगु तो तक़रीबन पूरी तरह संस्कृत शब्दों से बनी हैं। कोलब्रुक ने भी संस्कृत और प्राकृतों के संबंधों पर अपनी रचना में ऐसी ही बात कही थी। इस लिहाज़ से दक्षिण भारतीय भाषाएँ भी विलियम जोंस द्वारा प्रतिपादित भारोपीय भाषा परिवार की ही हो जाती थीं। इन दावेदारियों के विपरीत

---

[50] विलियम कैरी को श्रीरामपुर कॉलेज और श्रीरामपुर विश्वविद्यालय (डिग्री देने वाली भारत की पहली संस्था) की स्थापना का श्रेय है. उन्होंने *रामायण* का अंग्रेज़ी में *बाइबिल* का बांग्ला, असमी, ओड़िया, मराठी, हिंदी और संस्कृत में अनुवाद किया.

[51] अलेक्ज़ेंडर डंकन कैम्पबेल सरकारी अफ़सर थे और एलिस के प्रति शिष्यभाव रखते थे. 1813 में उन्होंने तेलुगु भाषा की परीक्षा पारितोषिक के साथ उत्तीर्ण की. जिस तेलुगु का उन्होंने व्याकरण लिखा था वह इस भाषा की 'श्रेष्ठ' क़िस्म थी, न कि 'निकृष्ट'. यही था वह प्रारूप जिसके आधार पर ब्रिटिश विद्वानों ने भाषाओं के व्याकरण तैयार किये थे. तेलुगु से पहले 'श्रेष्ठ' तमिल का व्याकरण भी लिखा जा चुका था.

कैम्पबेल की रचना की लम्बी भूमिका 'नोट टू इंट्रोडक्शन' में एलिस ने कैम्पबेल के तर्क की संस्तुति की और द्रविड़ भाषा परिवार के सूत्रीकरण तक पहुँचे। उन्होंने तेलुगु, कन्नड़ और तमिल के देश्य अंगों की शिनाख़्त करते हुए दिखाया कि इनकी परस्पर सजातीयता तीनों भाषाओं के समान उद्गम का प्रमाण है और इस लिहाज़ से यह द्रविड़ भाषाओं का वंशवृक्ष है। इसे द्रविड़ भाषा परिवार कहा जाना चाहिए। मामिडी वेंकैया के तेलुगु व्याकरण *आंध्रदीपिका* के हवाले से एलिस ने निष्कर्ष निकाला कि कुछ धार्मिक और तकनीकी शब्दों के अपवाद को छोड़ कर ऐसी कोई अभिव्यक्ति या विषय नहीं है जिसके लिए तेलुगु भाषा को संस्कृत से शब्द लेने की आवश्यकता पड़े। यही ख़ूबी तमिल, कन्नड़ी (कन्नड़) और दक्षिण भारत की अन्य भाषाओं में है। उन्होंने तेलुगु, तमिल और कन्नड़ी के देश्य शब्दों की तालिकानुमा सूची भी पेश की और बताया कि कैसे तीनों भाषाओं में इनका अर्थ एक ही है। एलिस का कहना था कि तेलुगु भाषा जिस धातुमाला पर आधारित है, उन्हीं पर दक्षिण की अन्य भाषाएँ आधारित हैं और इस धातुमाला का संस्कृति की धातुमाला से कोई संबंध नहीं है। यह दिखाने के लिए उन्होंने पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा तैयार की गयी तेलुगु धातुमाला का इस्तेमाल किया।

क्या एलिस ने जोंस की तर्ज़ पर द्रविड़ भाषा परिवार के सूत्रीकरण में भाषा के बिब्लिकल आख्यान का भी इस्तेमाल किया था? ऑक्सफ़र्ड में सुरक्षित रखी हुई एलिस की पाण्डुलिपियों के एक हिस्से का शीर्षक है 'ऑन द नेटिव्ज़ बाइ हूम द तमिल लेंग्वेज इज स्पोकिन'। इसकी शुरुआत वे इस प्रकार करते हैं, 'तमिल बुनियादी रूप से उन भाषा परिवारों से सम्बद्ध है जिनमें सबसे प्राचीन हिब्रू है और निश्चित रूप से सर्वाधिक परिष्कृत अरबी है।' यह कह कर एलिस ने तमिलों को सेमेटिक (नूह के बेट शेम) परिवार से जोड़ दिया। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कई तमिल शब्दों की सजातीयता हिब्रू, चाल्डियन और अरबी से जोड़ कर दिखायी। दरअसल, यह विलियम जोंस द्वारा प्रवर्तित हज़रत मूसा के नृजाति-विज्ञान का ही इस्तेमाल था। जोंस की ही तरह एलिस भी शब्द-सूची देने की पद्धति का इस्तेमाल कर रहे थे। अगर जोंस के मुताबिक़ भारोपीय भाषा परिवार के आर्य हैम के वंशज थे, तो द्रविड़ भाषा परिवार को भी कहीं-न-कहीं *बाइबिल* से जुड़ना ही था। इसलिए उसे शेम से जोड़ा गया।

बाइबिल में नूह के वंशवृक्ष से संबंध स्थापित होने का स्वाभाविक नतीजा भारत में भी वही निकलना था जो *बाइबिल* के आधार पर राष्ट्रों के वंशवृक्ष के रूप में युरोप में निकाला गया था। चूँकि भाषा के आधार पर कलकत्ता के नव-प्राच्यवादियों ने भारत की भाषाई और नृजातीय एकता दिखाने की कोशिश की थी, इसलिए ज़ाहिरा तौर पर भाषा के आधार पर ही इस एकता का खण्डन सामने आया। भारोपीय भाषा परिवार के मुक़ाबले जैसे ही द्रविड़ भाषा परिवार की संकल्पना की गयी, वैसे ही भारत के मूलवासियों और बाहर से आये (चाहे आक्रामक के रूप में आये हों या आव्रजन के ज़रिये) लोगों की अलग-अलग और एक-दूसरे ख़िलाफ़ खड़ी श्रेणियाँ बनने लगीं। द्रविड़ भाषाओं को भारत की मूल भाषाओं अर्थात् संस्कृत के आने से पहले की भाषाओं के रूप में देखने की बौद्धिक परम्परा बनती चली गयी। इस तरह एक नये अनुशासन का जन्म हुआ जो आधुनिक भाषाओं में आदिवासी तत्त्वों की खोज करने के लिए समर्पित था।

1840 से 1850 के बीच की अवधि में मूलवासियों की भाषाओं की परस्पर एकता को तरह-तरह से साबित करने का यत्न किया गया। इस उद्यम में लगे हुए विद्वानों में प्रमुख थे ब्रायन हॉटन हॉजसन और रेवरेंड जॉन स्टीवेंसन। स्टीवेंसन एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के मुखिया तो थे ही, मराठी व्याकरण के विद्वान होने के नाते उन्होंने इस सिलसिले में विशेष रणनीतिक भूमिका निभायी। यहाँ समझने की बात यह है कि मराठी क्षेत्र भारोपीय और द्रविड़ भाषा परिवारों के बीच विभाजक रेखा बनाता था। भारोपीय भाषा परिवार के समर्थक मराठी को आर्य भाषाओं की श्रेणी में रखते थे, लेकिन स्टीवेंसन ने 1841 में प्रकाशित अपनी कृति *एन एसे ऑन द लेंग्वेज ऑफ़ द अबोरिजिनल हिंदूज़* में इस भाषा को द्रविड़ परम्परा

में रखा। इसके बाद उन्होंने 1843 के अपने लेख 'ऑब्ज़रवेशंस ऑफ़ द मराठी लेंग्वेज' में कैम्पबेल और एलिस की पद्धति का इस्तेमाल करते हुए पचास हज़ार शब्दों की सूची बनाई और मराठी में बहुत से द्रविड़ तत्त्व होने की दावेदारी पेश कर दी। जिस तरह संस्कृत भारत में आर्यों की आदिभाषा बताई जा रही थी, उसी तरह द्रविड़ों की भी एक आदिभाषा दिखानी ज़रूरी थी। इस आदिभाषा का प्रभाव सारे भारत पर भी पड़ता हुआ दिखाया जाना भी ज़रूरी था, इसलिए हॉजसन ने हिंदी और गुजराती पर भी द्रविड़ असर के पहलुओं पर उँगली रखनी शुरू कर दी। उन्होंने यक़ीन दिलाया कि संस्कृत से पहले भारत में एक द्रविड़ आदिभाषा रही होगी। ऐसी ही एक आदिभाषा की कल्पना जोंस ने भी भारोपीय भाषा परिवार के संदर्भ में की थी जिसे वे आद्य हिब्रू मानते थे, और जिसके बारे में उनका निष्कर्ष था कि वह लुप्त हो चुकी है।[52] स्टीवेंसन, हॉजसन और उनके बाद साठ के दशक में नस्ल-विज्ञान के प्रवर्तकों में से एक जॉर्ज कैम्पबेल (ए.डी. कैम्पबेल नहीं) ने जो निष्कर्ष निकाले, उन्हें पढ़ते ही समझ में आ जाता है कि इसी अवधि में सक्रिय रहे दो महान समाज-सुधारकों, महाराष्ट्र में जोतिराव फुले (1827-1890)[53] द्वारा भारत की धरती पर हुए नस्ल-आधारित साभ्यतिक संघर्ष (प्रकारांतर से बहुजन थीसिस) की थीसिस देने और वेद-संस्कृत समीकरण के घोर समर्थक दयानंद सरस्वती (1824-1883)[54], द्वारा आर्यावर्त को विंध्याचल के इधर सीमित मानने की भाषाई जड़ें कहाँ थीं। जॉन स्टीवेंसन के इस कथन से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है :

> एक सर्वाधिक सम्भाव्य सिद्धांत ने स्वयं को लेखक के सामने पेश किया है। इसके मुताबिक़ भारत में प्रवेश करने वाली और आज के ज़माने में ऊँची जातियाँ समझी जाने वाली, यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातियों को यहाँ एक असभ्य क़िस्म की, एक भिन्न भाषा बोलने वाली, अलग धर्म अपनाने वाली, अलग रीति-रिवाजों और परम्पराओं वाली आदिम आबादी मिली। इसे उन्होंने हथियारों और रणनीति के दम पर पराजित किया, और उनकी बड़ी संख्या को उत्तरी क्षेत्रों की तरफ़ निष्कासित कर दिया। जो यहाँ रह गये, उनका नयी आबादी के साथ मिश्रण हुआ, और वे पहले विजेताओं के दास बने और फिर शूद्र बना दिये गये। इन मूलवासियों की बोली भाषाओं के दक्षिणी परिवार की सदस्य थी, जिसका सर्वाधिक सम्पूर्ण रूप तमिल में मिलता है।[55]

कम्पनी के हेलीबरी स्थित ईस्ट इंडिया कॉलेज से पढ़ कर आये हॉजसन ने भी स्टीवेंसन के नक़्शे-क़दम पर चलते हुए फ़तवा दिया कि आर्यों ने तीन हज़ार साल पहले उत्तर-पश्चिम से आ कर हिंदुस्तान, बंगाल और लगे हुए दक्षिण के सभी इलाक़ों को जीत लिया। उनके बर्बर अत्याचारों के कारण दक्षिण की तमाम भाषाओं की विविधताओं का क्षय हो गया, जबकि उनके पहले सारे देश के 'तमुलियन' एक ही उद्‌गम से फूटे थे। चूँकि हॉजसन का सारा जीवन पहाड़ों में गिरिजनों के बीच बीता था, इसलिए उन्होंने तीसरे भाषा ऑस्ट्रो-एशियाटिक (मुण्डा भाषा परिवार या आस्त्रिक भाषा परिवार) के विशेषज्ञ के रूप में इस परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार की एकता का प्रतिपादन कर डाला (मैक्स मुलर ने भारत की सभी ग़ैर-आर्य भाषाओं को पुराणों की मदद से निषाद-भाषा की

---

[52] राधावल्लभ त्रिपाठी ने मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि लुप्त हो चुकी हिब्रू के बाद एक इंडोहिट्टाइट भाषा भी थी.

[53] नस्लवाद का विरोध करने के लिए तत्पर रहने वाले कुछ बुद्धिजीवियों में फुले द्वारा अपनाए गये नस्लवादी प्रत्यय पर न केवल ख़ामोश रहने की प्रवृत्ति अपनाई जाती है, बल्कि वे उसे नस्लवाद मानते ही नहीं. सामाजिक न्याय के नाम पर वे उसे भारतीय समाज में फुले द्वारा रैडिकल हस्तक्षेप की संज्ञा देते हैं. और तो और, आम्बेडकर जब कमज़ोर जातियों और द्विजों के बीच नस्ली अंतर का तर्क ख़ारिज करते हैं तो भी ये बुद्धिजीवी इसे आम्बेडकर द्वारा 'अपने गुरु' फुले की बिना नाम लिए की गयी आलोचना के रूप में देखने के लिए तैयार नहीं होते.

[54] दयानंद सरस्वती सनातन धर्म की जिन कुरीतियों के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रहे थे, वे दक्षिण भारत में उत्तर से भी ज़्यादा विद्यमान थीं. लेकिन, दक्षिण में उनके आर्य समाज आंदोलन की आहट भी कभी सुनाई नहीं दी. उनका आंदोलन उत्तर भारत में ही सीमित रहा. इसका प्रमुख कारण यही था कि आर्यावर्त की उनकी संकल्पना में दक्षिण शामिल ही नहीं था. अपने जीवन के आख़िरी हिस्से में ही वे दक्षिण के ऊपर कुछ सोच-विचार की स्थिति में आ पाए.

[55] रेवरेंड जॉन स्टीवेंसन का यह कथन ट्राउटमान (1997) से : 156.

श्रेणी में डाला था)। भारत की भाषाओं को यहाँ के वासियों के नस्ल-निर्धारण के पाँच प्रमुख मानकों (दैहिक रूप, भाषा, धर्म, विधि और तौर-तरीक़े व मनोविज्ञान) में से एक बनाने का काम 1866 में प्रकाशित जॉर्ज कैम्पबेल की रचना *एथ्नॉलॅजी ऑफ़ इंडिया* ने किया। यह भारतीय सभ्यता के नस्ली सिद्धांत की बानगी थी। इस तरह ब्रिटिश नव-प्राच्यवादियों द्वारा उत्तर के आर्यों के मुक़ाबले पूरे भारत को खड़ा कर दिया गया।

कैम्पबेल और एलिस के तक़रीबन चालीस साल बाद बिशप रॉबर्ट कॉल्डवेल ने जो किया, वह केम्पबैल और एलिस द्वारा प्रतिपादित द्रविड़ भाषा परिवार की थीसिस को और पुष्ट करना ही था। दरअसल, जब तक ट्राउटमान ने एलिस को इस क्षेत्र में नयी ज़मीन तोड़ने वाले विद्वान होने का श्रेय नहीं दे दिया, तब तक भाषा-विज्ञान में द्रविड़ भाषा परिवार कॉल्डवेल की ही कृति माना जाता था। एक ईसाई धर्मप्रचारक और 'मिशनरी ओरिएंटलिज़्म' के हस्ताक्षर के रूप में कॉल्डवेल तत्कालीन एंग्लिकन सोसाइटी फ़ॉर द प्रपोगेशन ऑफ़ गॉस्पल (एसपीजी) के सदस्य थे। यह संस्था दक्षिण भारत में सत्रहवीं सदी से ही सक्रिय और डेनिश व जर्मन मदद पर पनप रहे लूथरन मिशनरियों को नियंत्रित करने में लगी हुई थी। लेकिन, कॉल्डवेल लूथरन मिशनरियों के सादा जीवन और प्रतिबद्धता से बहुत प्रभावित थे। लूथरनों की ख़ास बात यह थी कि वे लम्बे अरसे से हिंदू धर्म के दक्षिण भारतीय संस्करण को उत्तर भारतीय संस्करण से अलग बताने की बौद्धिक क़वायद में लगे हुए थे। उनका बुनियादी तर्क यह था कि जब तक दक्षिण को ब्राह्मणों, संस्कृत और वर्णाश्रम के प्रभाव से मुक्त नहीं किया जाएगा, तक धर्मांतरण की कोशिशों में बाधा पड़ती रहेगी। इसलिए लूथरनों ने ऐसी तमिल पाण्डुलिपियों की लाइब्रेरी बनाई, और तमिल प्राचीन साहित्य की ऐसी रचनाओं की पुनर्प्रस्तुति का अभियान चलाया जिनसे दक्षिणी हिंदू उत्तर से अलग दिखते हों। प्रमुख लूथरन कार्ल ग्रौल पहले मिशनरी बुद्धिजीवी थे जिन्होंने अपनी रचनाओं में 'कथित द्रविड़ भाषा परिवार' का उल्लेख किया था। कॉल्डवेल ने इस मुहिम में न केवल दिलचस्पी दिखाई, बल्कि उसमें भाग भी लिया। कॉल्डवेल ने 1849 में तिनेवेली शनार्स शीर्षक से शनारों (बाद में जो नाडर कहलाए) का धार्मिक इतिहास लिखा। इसमें उन्होंने शनारों को 'डीमन-वर्शिप' करने वाले 'ग़ैर-ब्राह्मण' समुदाय के रूप में चित्रित किया। कॉल्डवेल शनारों को ब्राह्मणों का सामाजिक प्रतिरोध करने वाली शक्ति के रूप देख रहे थे। चर्च द्वारा जैसे ही यह पुस्तक प्रकाशित हुई, शनारों ने स्वयं को 'डीमन-वर्शिपर' मानने से इंकार करते हुए काफ़ी नाराज़गी जताई। नतीजतन कॉल्डवेल और चर्च को यह पुस्तक वापिस लेनी पड़ी। कॉल्डवेल की यह पृष्ठभूमि बताती है कि 'मिशनरी ओरिएंटलिज़्म' दक्षिण भारत में किस नज़रिये से काम कर रहा था।[56]

भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से कॉल्डवेल ने द्रविड़ भाषाओं के बीच आपसी समानता और संस्कृत के साथ उनकी भिन्नता का जो विश्लेषण किया था, उसका गहन अध्ययन करने वाले भगवान सिंह ने उसे तेरह बिंदुओं में पेश किया है। इस लम्बे विश्लेषण की कुछ प्रमुख बातों को इस प्रकार समझा जा सकता है : मसलन, द्रविड़ भाषाओं में निर्जीव और चेतनारहित संज्ञाओं को नपुंसक लिंग नहीं माना जाता और न ही सामान्यत: इनका बहुवचन होता है, जबकि संस्कृत में ऐसी संज्ञाओं को भी स्त्रीलिंग और पुलिंग की श्रेणी में बाँटा जाता है। जिन परिस्थितियों में भारोपीय भाषाओं में पूर्वसर्ग लगते हैं, उन्हीं परिस्थितियों में द्रविड़ भाषाओं में परसर्ग लगाए जाते हैं। सम्प्रदानकारक का द्रविड़ चिह्न कु, कि या गे का संस्कृत या किसी भारोपीय भाषा के चिह्न से सादृश्य नहीं पाया जाता। संस्कृत और भारोपीय भाषाओं में विशेषणों की रूपावली संज्ञाओं की तरह चलती है और इनका लिंग, वचन और कारक उसके अनुरूप ही होता है, जबकि द्रविड़ भाषाओं में विशेषणों का रूपभेद हो ही नहीं सकता। भगवान सिंह ने कॉल्डवेल की इन सभी बातों का बिंदुवार प्रति-विश्लेषण भी पेश किया

---

[56] इस प्रकरण की विस्तार से जानकारी प्राप्त करने के लिए देखें, विल स्वीटमैन (2016).

है।[57] निश्चित रूप से यह भाषा-वैज्ञानिक विवादात्मकता महत्त्वपूर्ण है, पर उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा की रूपरेखा पेश करने की दृष्टि से हमारे लिए भगवान सिंह और उनसे पहले रामविलास शर्मा व्यक्त किये गये अन्य विचार अधिक विषयानुकूल हैं जिनकी आगे चर्चा की जाएगी।

कॉल्डवेल ने हिंदी और द्रविड़ भाषा परिवार के बीच संबंधों और इस परिवार की आस्त्रिक भाषा परिवार के साथ एकता की दावेदारी से मतभेद जताया। इस मतवैभिन्य के अलावा उनके विमर्श की बौद्धिक राजनीति और कैम्पबेल-एलिस की जोड़ी द्वारा की गयी बौद्धिक राजनीति में अधिक अंतर नहीं था। भगवान सिंह के मुताबिक़ यह राजनीति पहले से चली आ रही थी और इसमें भारोपीय भाषा परिवार के प्रवर्तकों की भी भूमिका थी। मसलन, भाषाओं के शब्द-भण्डार या व्याकरण के बारे में चर्चा करते-करते नव-प्राच्यवादी अप्रासंगिक ढंग से अचानक बताने लगते थे कि द्रविड़ भाषाएँ संस्कृत के ख़िलाफ़ तीन हज़ार साल से टिकी हुई हैं। ख़ास बात यह है कि जिन भाषाओं में संस्कृत से लिए गये शब्दों की भरमार (चालीस-पैंतालीस प्रतिशत) है, और विमर्श-निर्मिति में भाग लेने की उनकी क्षमता ही संस्कृत से उनके सान्निध्य पर टिकी है, उन भाषाओं को वे संस्कृत से संघर्ष करते हुए दिखा रहे थे। जिन ब्राह्मणों को एक ज़माने में स्वयं दक्षिण भारतीय राजाओं ने उत्तर से अपने यहाँ बुलाया था, और जिनके उद्यम के फलस्वरूप दक्षिण भारतीय भाषाओं के व्याकरण रचे गये और संगम साहित्य की शुरुआत हुई, उन ब्राह्मणों को कॉल्डवेल ने अतीत के उन ब्राह्मणों का उत्तराधिकारी बताया जो कभी आर्यों के साथ दक्षिण में उपनिवेश क़ायम करने के लिए आये थे। और तो और, उन्होंने दक्षिण भारतीय भाषाओं को संघर्ष का कार्यभार भी थमाया कि उनका काम उत्तर की भाषाओं का प्रतिरोध करते रहना है, क्योंकि यही उनकी परम्परा रही है। ज़ाहिर है कि यह बात भाषाशास्त्र के दायरे से बाहर की थी, और राजनीति का छौंक लगाए बिना कॉल्डवेल की 'कम्पैरेटिव ग्रामर' में नहीं आ सकती थी।

उत्तर भारत के संदर्भ में भी नव-प्राच्यवादियों के भाषा संबंधी साहित्य में ऐसे उदाहरण आसानी से मिल सकते हैं। भगवान सिंह के मुताबिक़, 'ठीक इसी तरह का प्रचार उत्तर भारत के विषय में भी हो रहा था, जिसमें आधुनिक आर्यभाषाओं की तीन तरह की व्याख्याएँ दी जा रही थीं। पहली यह कि ये भाषाएँ संस्कृत के क्षय और विगलन से पैदा हुई हैं। दूसरी यह कि संस्कृत उस भाषाई उपस्तर पर आरोपित है जिसकी प्रकृति तूरानी या सीथियन थी, और इस तरह उत्तर के सवर्णों और अवर्णों के बीच टकराव पैदा करने का प्रयत्न किया जा रहा था जो विलियम जोंस के समय से चला आ रहा था। इसी तरह हिंदीभाषी क्षेत्र में हिंदुओं और मुसलमानों की भाषा के बीच अलगाव पैदा करते हुए फ़ारसी-बोझिल हिंदी को भारतीय उपयोग के लिए सबसे उपयुक्त बताया जा रहा है।'[58]

भारतीय सभ्यता का नस्ली सिद्धांत

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भाषा, राष्ट्र और नस्ल का समीकरण युरोपीय दायरे में बौद्धिक रूप से प्रश्नांकित किया जाने लगा था। लेकिन समाज, राजनीति और संस्कृति की व्यावहारिक ज़मीन पर इस समीकरण का प्रभाव न केवल जारी रहा, बल्कि पहले के मुक़ाबले और मज़बूत हो गया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण भारतीय संदर्भ में मिलता है। हमारा मानस उपनिवेशवाद से आज़ादी मिलने के बाद भी भारतीय सभ्यता के नस्ली सिद्धांत से आज तक आज़ाद नहीं हो पाया है। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें उन बौद्धिक कारिस्तानियों पर नज़र डालनी होगी जो इस विपरीत परिणाम के लिए ज़िम्मेदार थीं। ज़ाहिर है कि इतनी बड़ी बौद्धिक गढ़ंत कोई एक-दो लोगों के बस की बात नहीं होती। इसमें भी कई युरोपीय संस्कृतज्ञों और नृजाति-विज्ञान के भारतीय दायरे में सक्रिय

---

[57] भगवान सिंह (203), पूर्वोद्धृत : 141-156 (अध्याय : 'संस्कृत और द्रविड़ भाषाएँ')
[58] भगवान सिंह (2013), पूर्वोद्धृत : 214.

विद्वानों का हाथ था। लेकिन इनमें दो की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। इनमें एक थे वेदों को युरोपीय मंच पर स्थापित करने वाले विख्यात जर्मन संस्कृतज्ञ और भारतविद्याविद् फ्रीड्रिख़ मैक्स मुलर। दूसरे थे उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय नृजाति–विज्ञान के महारथी और भारत में जनगणना की शुरुआत कराने वाले हरबर्ट होप राइज़ली (1851–1911)।[59]

भाषाई आधार पर आर्य–श्रेष्ठता की अवधारणा को युरोप में लोकप्रिय करने का श्रेय जिन कुछ लोगों को जाता है, उनमें मैक्स मुलर का नाम शीर्ष पर है। अपनी अकादमीय लेकिन सरस लेखन–शैली, प्रभावशाली वक्तृता, सुंदर व्यक्तित्व और सार्वजनिक जीवन में लम्बी बौद्धिक सक्रियता के कारण लंदन और युरोप में वे भारत, संस्कृत, वैदिक अध्ययन और आर्य–श्रेष्ठता के सबसे चमकदार प्रवक्ता माने जाते थे। मोज़ेक एथ्नॉलॅजी के आईने में देखने पर उनकी और विलियम जोंस की थीसिस में अंतर केवल यह नज़र आता है कि जोंस हिंदुओं को और उन्हीं के साथ युरोपियनों को नूह के बेटे सेम का वंशज मानते थे, जबकि मैक्स मुलर युरोपियनों और उन्हीं के विस्तार के रूप में भारतीयों को नूह के ही बेटे जैफ़ेट का वंशज मानते थे। उनकी मान्यता थी कि आर्यों के सम्पर्क में आ कर दक्षिण भारतीय मूलवासियों ने अपनी सभ्यता में काफ़ी सुधार किया। उनका ख़्याल था कि इस सुधार की मुख्य वजह थी ब्राह्मणों की दक्षिण में शांतिपूर्ण बसावट, और इस क्षेत्र पर स्थायी प्रभाव डालने में मुसलमान राजवंशों की नाक़ामी। कलकत्ता के नव–प्राच्यवादियों की ही भाँति उन्हें भी पक्का यक़ीन था कि वैदिक अतीत में भारत और युरोप के बीच शैशवकालीन सादृश्य था, लेकिन युरोपवासी अपनी उपलब्धियों का लाभ उठा कर लगातार प्रगति करते गये और भारत निरंतर पतन के गर्त में गिरता चला गया। इसका कारण वे मुख्य तौर पर दो वजहों को मानते थे। पहली, लोक–प्रचलित हिंदू धर्म के प्रचार–प्रसार के कारण वैदिक धर्म की शुद्धता में कमी आना, और मुसलमानों की हुकूमत का प्रदूषणकारी प्रभाव। चूँकि उन्नीसवीं सदी का भारत इन्हीं वजहों से मैक्स मुलर के स्वप्निल अतीत के मुताबिक़ नहीं था, इसलिए उन्होंने भारत की ज़मीन पर कभी क़दम नहीं रखा। और तो और, उन्होंने अपने शिष्यों को भी भारत जाने के प्रति लगातार हतोत्साहित किया। केशव चंद्र सेन ने लंदन में उनसे मुलाक़ात के दौरान पूछा कि 'आपने कभी बनारस आने का क्यों नहीं सोचा?' मैक्स मुलर ने कहा, 'मैं तो सदा अपने बनारस में ही हूँ। मुझे अपने घर की बनारस के रूप में कल्पना करना अच्छा लगता है। उस भौगोलिक बनारस को मैं अपने चर्मचक्षुओं से देखना भी नहीं चाहता। मेरी कल्पना का बनारस इतना ऊँचा है कि उसे लेकर मेरा मोह टूट जाए, यह ख़तरा मैं नहीं ले सकता।'[60] लंदन में अपने जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा गुज़ारने वाले इस जर्मन विद्वान का ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के लिए एक ही संदेश था कि वे हिंदुओं के रूप में अपने आर्य बिरादरों को वैदिक स्वर्ण युग के मुताबिक़ अपना पुनरुत्थान करने के लिए प्रेरित करें।

1854 में मैक्स मुलर ने भारत यानी 'सीट ऑफ़ वार' में युद्धरत ब्रिटिश अफ़सरों को नसीहत दी कि पलासी में युद्ध जीत कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डालने वाले अंग्रेज़ विजेताओं और अधीनस्थ किये गये साँवले बंगाली विजितों के बीच ख़ून का रिश्ता है, और इसका आधार चमड़ी का रंग या दैहिक समानता न हो कर भाषा है। ज़ाहिर है कि यह नसीहत जोंस द्वारा प्रतिपादित भारोपीय भाषा परिवार द्वारा स्थापित संस्कृत और ग्रीक–लैटिन के बीच समानता (आर्य भाषा परिवार) की रोशनी में दी गयी थी।[61] भारत में मैक्स मुलर के प्रशंसकों को यह तथ्य रेखांकित करना काफ़ी पसंद

---

[59] ट्राउटमान (1907), पूर्वोद्धृत, अध्याय–7 'रेशियल थियरी ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन' : 189–215. इसके अलावा आर्य–श्रेष्ठता के विमर्श के लिए देखें, टोनी बैलेंटाइन (2003), पूर्वोद्धृत, पहला अध्याय 'द इमर्जेंस ऑफ़ आर्यनिज़म' : 18–55.

[60] राधावल्लभ त्रिपाठी (2014) : 49–60.

[61] मैक्स मुलर (1854).

है कि भाषा, आर्य और नस्ल का आपसी संबंध जोड़ने वाले ऐसे वक्तव्यों से उन्होंने अपने जीवन के आख़िरी दौर में नाता तोड़ लिया था। ऐसा करके वे समझ लेते हैं कि उन्होंने अपने महानायक को नस्लवादी होने के आरोप से बचा लिया है। इसमें कोई शक नहीं कि मैक्स मुलर ने भाषा और नस्ल के आपसी संबंधों का खण्डन करते हुए एक लम्बा लेख लिखा था। लेकिन, उनकी मुश्किल यह थी कि वे अपनी जिस रचना में सचेत रूप से यह बात कह रहे थे, उसी रचना में आगे चल कर आगे चल कर अचेत रूप से अपने पुराने विचारों की पुष्टि ही करते नज़र आये। वास्तव में मैक्स मुलर के लिए संस्कृत भाषा, ऋग्वेद और आर्य प्रजाति को भारतीय सभ्यता का विधेयक आधार मानने से पूरी तरह बचना नामुमकिन था।

दरअसल, पलासी के विजेताओं और विजितों के बीच वंशानुगत समानता दिखाने वाली मैक्स मुलर की बातें भारत में श्वेतांगों के मुक़ाबले आत्महीनता के शिकार उपनिवेशितों के मन में भले ही गुदगुदी पैदा करने वाली हों, लेकिन युरोप के तत्कालीन बौद्धिक थियेटर में ऐसा सुझाव देना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। उन दिनों ब्रिटिश संस्कृतज्ञों की इस बात को लेकर बड़ी लानत–मलामत हो रही थी कि उन्होंने भाषा को आधार बना कर भारतवासियों की नस्ल को पश्चिम युरोपीय अंग्रेज़ों की नस्ली वंशावली का हिस्सा बताने की जुर्रत की है। भाषिक सादृश्य को प्रजाति–समानता का आधार बताने के ख़िलाफ़ तमाम तरह के अकादमीय तर्क दिये जा रहे थे। मैक्स मुलर को भी इस माहौल में ज़बरदस्त आलोचना का सामना करना पड़ा। नतीजतन उन्होंने 1854 में ही क़दम वापिस खींचने शुरू कर दिये। इसी वर्ष छपे अपने एक लम्बे लेख में मैक्स मुलर को संस्कृत से निकली भाषाएँ बोलने वाले उत्तर भारतीय दैहिक रूप से 'तमुलियन' जैसे प्रतीत हुए और द्रविड़ भाषाएँ बोलने वाले दक्षिण के कई ब्राह्मण आर्य मूल के दिखने लगे। साथ में मैक्स मुलर ने यह भी कहा कि साँवले बंगाली देखने में भले ही 'तमुलियन' लगते हों, लेकिन उनकी भाषा का व्याकरण किसी भी तरह से द्रविड़ नहीं है। उन्होंने साफ़ तौर पर प्रस्ताव रखा कि 'फ़ोनोलॅजी' और 'एथ्नॉलॅजी' को अलग–अलग करके देखा और इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

ऐसा कह कर मैक्स मुलर भले ही भाषा को नस्ल का पर्याय बताने वाली व्याख्या से अपना संबंध बौद्धिक दबाव में तोड़ते प्रतीत हुए हों, लेकिन अपने इसी लेख में वे ऋग्वेद के बारे में चर्चा करते समय एक बार फिर नृजाति–वर्णन का सहारा ले कर नस्ली व्याख्या करते नज़र आये। दरअसल, यही वह दौर था जब वे ऋग्वेद के अपने विख्यात अनुवाद (सायण द्वारा किये गये भाष्य सहित) के प्रकाशन की तैयारी कर रहे थे। ऋग्वेद में उन्हें चार जातियों में से तीन (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) आर्य दिखीं, और एक (शूद्र) अनार्य। इन चार श्रेणियों से बाहर जिन जातियों का ज़िक्र ऋग्वेद में दस्यु, राक्षस या कच्चा मांस खाने वालों के रूप में मिलता है, उनके और आर्यों के बीच तुलना करते हुए मैक्स मुलर ने सुंदर नासिका (नाक) वाले इंद्र (जो दस्युओं के संहारक हैं) और चपटी या लुप्तप्राय: नासिका वाले दस्युओं के बीच अंतर को रेखांकित किया। इस तरह मैक्स मुलर ने भारतीय सभ्यता के (और इस लिहाज़ से मानव–जाति के) सबसे पुराने लिखित प्रमाण ऋग्वेद में सुंदर, असुंदर या लुप्तप्राय नासिका के महत्त्व की तरफ़ इशारा कर दिया। ख़ास बात यह है कि यह इशारा आर्य–अनार्य संघर्ष के संदर्भ में किया गया था। चूँकि ऋग्वेद के जिन मंत्रों के आधार पर मैक्स मुलर ने ये बातें कही थीं, वे कम से कम एक और ज़्यादा से ज़्यादा तीन थे, इसलिए इस न के बराबर आधार सामग्री से निकाले गये निष्कर्षों को वे ज़्यादा दूर तर नहीं खींच सकते थे। लेकिन, उन्होंने जितना कहा था, वह वेदों की नस्लवादी व्याख्या की बुनियाद डालने के लिए पर्याप्त साबित हुआ।[62]

---

[62] मैक्स मुलर द्वारा की गयी इस चर्चा के लिए देखें, मैक्स मुलर (1854) : 263–272. यहाँ यह विषय बहुत संक्षेप में उठाया गया है. मैक्स मुलर के इन विचारों पर और विस्तृत टिप्पणी के लिए देखें, ट्राउटमान (1997) : 193–197.

जिस समय मैक्स मुलर ये विचार व्यक्त कर रहे थे, उस समय एच.एच. राइज़ली मुश्किल से तीन-चार साल के रहे होंगे। आगे चल इन्हीं राइज़ली ने अपनी नृजातिशास्त्रीय *रचना ट्राइब्ज़ ऐंड कास्ट्स ऑफ़ बेंगाल* (1892) में मैक्स मुलर द्वारा छोड़े गये संकेत को बढ़ा-चढ़ा कर अपनाते हुए 'नासिका संबंधी भिन्नता' को आधारभूत महत्त्व प्रदान किया। 1901 में जनगणना कमिश्नर के रूप में भारतवासियों की गिनती कराते हुए उन्होंने इस दूरगामी महत्त्व की क़वायद को प्रजातिमूलक नृजाति-विज्ञान से जोड़ दिया। राइज़ली की स्पष्ट मान्यता थी कि दुनिया के अंतर-प्रजातीय विवाहों के कारण पैदा हुई संकर संतानों ने दूसरे देशों में समाज का अध्ययन भले ही मुश्किल कर दिया हो, लेकिन भारत में जातियों के बीच विवाह न होने के कारण जातियों को अलग-अलग नस्ली समूहों के रूप में देखा जा सकता है। 1891 में प्रकाशित अपने एक लेख 'द स्टडी ऑफ़ एथ्नॉलॅजी इन इंडिया' में उन्होंने भारत की जातियों और जनजातियों के बीच अंतर को नस्ली अंतर की संज्ञा दी, और दावा किया कि ग़ैर-आर्यों— कोल (संथाल परगना और छोटानागपुर में रहने वाले आदिवासी), द्रविड़ (दक्षिण भारत के निवासी), लोहित (पहाड़ों के वासी गिरिजन) और तिब्बती वग़ैरह— को इस पद्धति का इस्तेमाल करके हिंदू आर्यों से अलग किया जा सकता है। इस नस्ली अंतर को स्थापित करने के लिए राइज़ली ने नासिका के आकार की नापजोख-मानकों के एंथ्रोपोमेट्री-सूचकांक का इस्तेमाल किया। मैक्स मुलर की ही भाँति उन्होंने ऋग्वेद का हवाला देते हुए अपने इन आग्रहों को सिद्ध करने का उपक्रम किया। इस तरह राइज़ली ने नतीजा निकाला कि भारत में जाति-व्यवस्था का आधार पेशागत नहीं था, बल्कि तीखी और लम्बी नाक वालों तथा चौड़ी और चपटी नाक आधारित अर्थात् प्रजातिमूलक था। तीखी और लम्बी नाक वाले गोरे रंग के थे, लम्बे थे और उनके सिर का आकार भी बड़ा या लम्बा था। चौड़ी और चपटी नाक वाले नाटे, साँवले या काले और छोटे सिर वाले थे।

मैक्स मुलर और एच.एच. राइज़ली के विमर्श के बीच तक़रीबन 37 साल की दूरी थी। इसे भरने का काम कई ब्रिटिश संस्कृतज्ञों ने किया। इनमें एक थे हेनरी सम्नर माइन, जो विधिशास्त्र से संबंधित प्राचीन ज्ञान के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य (विधि संबंधित भारतीय परम्परा और रोमन परम्परा के बीच तुलना) में 'अनुसंधान' कर रहे थे। युरोप और भारत के बीच आर्य नस्ल की कड़ी होने पर यक़ीन के मामले में हेनरी माइन ने फ़िलॉलॅजी से मिलने वाली भाषिक युक्तियों पर भरोसा नहीं किया। इसके बजाय 1871 में उन्होंने पश्चिम और पूर्व के ग्राम्य समुदायों के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर दिया, और इस निष्कर्ष पहुँचे कि भारत के आर्यों ने युरोपीय आर्यों की ही भाँति अपनी स्वतंत्र ग्रामीण परिषदें गठित की थीं जिन्होंने सामुदायिक भू-स्वामित्व के उसूल के तहत गाँवों का संचालन किया था। माइन के लिए सभ्यता का एक ही मानक था— आर्यों के प्राचीन संसार की सभ्यता। इस आधार पर भारत और युरोप का संबंध जोड़ने के बाद वे नव-प्राच्यवादियों की भाँति इसी नतीजे पर पहुँचे कि आर्यों और अनार्यों के बीच होने वाले विवाहों के कारण प्रजातिमूलक प्रदूषण पैदा हुआ और भारतीय आर्य अपनी प्रगतिशीलता खोते चले गये। अंतत: उत्तर भारत आर्य सभ्यता के अजायबघर जैसा रह गया।

दूसरे उल्लेखनीय ब्रिटिश संस्कृतज्ञ थे जॉन मुइर थे, जिन्हें भारतवासियों के इतिहास के सूत्र प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में खोजने में दिलचस्पी थी। बनारस संस्कृत कॉलेज में अध्यापन कर चुके म्युर की तीन खण्डीय रचना *ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट ऑन द ओरिजिन ऐंड प्रोग्रेस ऑफ़ द रिलीजन ऐंड इंस्टीट्यूशन ऑफ़ इंडिया* 1858 से 1861 के बीच प्रकाशित हुई। उन दिनों इस तरह की किताब लिखना और इस तरह का तर्क देना हिम्मत का काम था। भाषा और नस्ल के संबंधों के विरोध में बन रहे बौद्धिक माहौल के मुख्यत: तीन कारण थे। पहला, 1857 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के ख़िलाफ़ हुई ज़बरदस्त फ़ौजी बग़ावत के बाद ब्रिटेन में भारतीयों और अंग्रेज़ों को एक नस्ल का बताने के ख़िलाफ़ बहुत कड़ी प्रतिक्रिया होती थी। दूसरा, 1859 में ब्रिक्सहैम की गुफ़ा में हुए पुरातत्त्वशास्त्रीय उत्खननों से नस्ल के भाषाई आधार के ख़िलाफ़ दलीलें निकलती थीं। तीसरा, डार्विन की रचना *ओरिजिन ऑफ़*

स्पेशीज़ के 1859 में ही हुए प्रकाशन से प्रजातियों के मूल स्रोत संबंधी धारणाओं में ज़बरदस्त परिवर्तन होने लगे थे। लेकिन, ऐसे माहौल के बावजूद म्युर ने अपनी इस रचना में संस्कृत, ग्रीक और लैटिन के शब्दों की 29 पृष्ठ लम्बी सूचियाँ पेश कीं और दावा किया कि इन तीनों भाषाओं में बहुत बुनियादी और अनिवार्य क़िस्म की समानता है। मैक्स मुलर की ही भाँति उन्होंने ऋग्वेद को अपना प्रमुख स्रोत बनाते हुए निष्कर्ष निकाला कि भारत के लोगों और युरोप के लोगों के बीच प्रागैतिहासिक संबंध थे जिनसे इंडो-युरोपियन फ़ेमिली की प्रजातिमूलक एकता प्रमाणित होती है। भारतीयों और युरोपियनों के बीच त्वचा के रंग और दैहिक मानकों के अंतर को उन्होंने यह कह कर तरजीह नहीं दी कि यह फ़र्क़ तो 'तीन हज़ार साल तक सूरज की प्रखर गर्मी' झेलने और 'हिंदुस्तानी हालात' में उपलब्ध खानपान के कारण आ गया है। 1874 में जब म्युर की रचना का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ तो उन्होंने भाषा को नस्ल के साथ जोड़ने की थीसिस के आलोचकों को कड़ा जवाब देते हुए अपने बुनियादी नतीजे को फिर से दोहराया, 'संस्कृत बोलने वाले मूल भारतीय उसी वंश के सदस्य हैं जिसकी सदस्यता ईरानियों, यूनानियों और रोमनों को प्राप्त है।' ख़ास बात यह थी कि म्यूर की इस रचना के सभी संस्करणों के आवरण पर स्पष्ट लिखा रहता था कि इसे मुख्यत: भारतीय छात्रों और पाठकों के लिए तैयार किया गया है। बनारस संस्कृत कॉलेज के छात्रों को इन पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए अक्सर प्रोत्साहित किया जाता था।[63]

इन विवरणों से एक बात तो साफ़ होती है कि युरोपीय मानस विभिन्न कारणों से भाषा और नस्ल के बीच ताल्लुक़ातों के ख़िलाफ़ बोलना भी चाहता था, और साथ में उसके पक्ष में नये-नये तर्क भी गढ़ रहा था। युरोपीय बौद्धिकता के दायरे में भाषा, नस्ल और राष्ट्र के बीच इस घालमेल का नतीजा यह निकला कि भाषा को नस्ल का पर्याय मानना जैसे-जैसे मुश्किल हुआ, वैसे-वैसे नस्ल की परिभाषा जैविक संदर्भों में की जाने लगी। लेकिन, इससे भाषा का नस्ल से पिण्ड नहीं छूटा। जिस तरह श्रेष्ठ भाषा, श्रेष्ठ नस्ल और श्रेष्ठ राष्ट्र का पर्याय मानी जाती थी, उसी तर्ज़ पर श्रेष्ठ नस्ल श्रेष्ठ भाषा और श्रेष्ठ राष्ट्र का पर्याय क़रार दी जाने लगी। इसके सबसे बड़े पैरोकार बन कर उभरे फ्रांसीसी विद्वान आर्थर डी गोबिनियू (1816-1882) जिन्होंने अपनी चार खण्डीय रचना (*एसे ऑन इनईक्वलिटी ऑफ़ द ह्यूमन रेसिज़*) में स्थापित किया कि भारोपीय भाषाएँ बोलने वालों में केवल जर्मनिक नस्ल के लोग ही विशुद्ध श्वेतांग प्रजाति के वाहक हैं और केवल वे ही महान् सभ्यताओं की रचना कर सकते हैं। बाक़ी सभी मिश्रित नस्ल के हैं, इसीलिए उनकी सभ्यताएँ पतन के लिए अभिशप्त थीं और हैं। नस्ली सिद्धांत की पैरोकारी पहले से की जा रही थी, लेकिन गोबिनियू ने 1835 से 1855 के बीच बीस साल लगा कर इन चार खण्डों के ज़रिये इतिहास के नस्ली सिद्धांत का आविष्कार ही कर डाला।

भले ही गोबिनियू की थीसिस में भाषा को चमड़ी के रंग के मातहत कर दिया गया हो, फ़िलॉलॉजी और एथ्नॉग्राफ़ी के संगम से अभी एक और ऐसा विमर्श फूटना बाक़ी था जिसके पीछे एक बार फिर विलियम जोंस की प्रेरणाएँ थीं। यह भूमिका जेम्स काउल्स प्रिचार्ड (1786-1848)) ने निभायी। उन्नीसवीं सदी के पहले दशक से लेकर चालीस के दशक तक प्रिचार्ड इंग्लैंड के एक मात्र अध्येता थे जो नृजाति-विज्ञान के लिए ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की उपयोगिता पर ज़ोर देते रहे। प्रिचार्ड ने 1809 में एंग्लिकन इवांजेलिकल सेक्ट की सदस्यता ग्रहण की, और फिर कहना शुरू किया कि दुनिया में भले ही सांस्कृतिक विभिन्नता हो, लेकिन 'जेनेसिस' के दृष्टांतों के मुताबिक़ ही मनुष्य के इतिहास का विकास हुआ है। इस सिलसिले में उनकी रचना *रिसर्चेज़ इनटू द फ़िज़िकल हिस्ट्री ऑफ़ मेन* *मील* का पत्थर मानी जाती है। ख़ास बात यह है कि इस रचना के ज़्यादातर तथ्य विभिन्न उपनिवेशों में सक्रिय मिशनरियों द्वारा तैयार किये गये भाषा संबंधी नृजाति-वर्णन से लिए गये थे। उन्हें इस बात

---

[63] माइन और म्युर के विमर्श की यह संक्षिप्त चर्चा टोनी बैलेंटाइन (2002), पूर्वोद्धृत : 51-52, 46-47 से.

में कोई संदेह नहीं था कि विलियम जोंस ने भारत की धरती पर जो सूत्रीकरण किये थे, वे मानवीय ज्ञान में किसी क्रांति से कम नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से दावा किया कि भाषाओं का स्थायित्व मानव-इतिहास का एक असाधारण तथ्य है, इसलिए भाषाओं के बीच में तुलना के माध्यम से राष्ट्रों के उद्गम से संबंधित महत्त्वपूर्ण प्रमाण हासिल किये जा सकते हैं। जोंस की ही भाँति उन्होंने मानवता के उद्गम को पूर्व में नील नदी और गंगा नदी के बीच कहीं निर्धारित किया। मिस्र के मिथकशास्त्र पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मिस्र की संस्कृति मानव-इतिहास के *बाइबिल* प्रदत्त सार्वभौम ढाँचे के तहत ही विकसित हुई थी। उन्होंने मिस्रियों, भारतीयों और युरोपियनों को नहू के बेटे हैम की संतान माना। जोंस और प्रिचार्ड में अंतर केवल एक था। जोंस चमड़ी के रंग में अंतर का कारण आबोहवा को मानते थे, लेकिन प्रिचार्ड ने 'खोज' यह की कि चमड़ी का रंग साभ्यतिक भिन्नता का परिचायक है। यानी, हैम के जो वंशज अधिक सभ्य हुए, उनका रंग श्वेत की तरफ़ झुका रहा। इस श्रेणी में उन्होंने युरोपियनों और उत्तर भारतीयों को रखा। हैम के जो वंशज सभ्य होने की दौड़ में पिछड़ गये, वे अधिकाधिक काले होते चले गये। जैसे, अफ़्रीकी और दक्षिण भारतीय।[64]

भाषा आधारित नृजाति-विज्ञान, संस्कृत (भाषा और साहित्य) और आर्यकेंद्रीयता के इस सतत ज़ारी बौद्धिक खेल का परिणाम 1912 में प्रकाशित वैदिक नामों और विषयों के विषद सूचकांक *वैदिक इंडेक्स ऑफ़ नेम्स ऐंड सब्जेक्ट्स* के रूप में निकला। इसे ए.ए. मैक्डोनाल और ए.बी. कीथ ने तैयार किया था। इसके ज़रिये इन दोनों उत्साही संस्कृतज्ञों ने भारतीय सभ्यता के नस्ली सिद्धांत का 'ठोस आधार' वेदों के पाठ में खोज निकाला। इस विश्वकोशात्मक कृति की प्रविष्टियों में ऋग्वेद के मात्र तीन मंत्रों (5.29.10, 1.130.8 और 6.40.1) के माध्यम से इंद्र के वज्र का शिकार हुए आर्यविरोधी मूलनिवासी दस्युओं और दासों को काली त्वचा का बताते हुए उनका चित्रण सीमांत और बर्बर गिरिजनों की भाँति किया गया।[65]

वस्तुतः चाहे ये तीन मंत्र हों या कुछ और, ऋग्वेद के मंत्रों में इंद्र के वज्र का मेघ रूपी बादलों से संघर्ष का वर्णन है। ब्रिटिश संस्कृतज्ञों ने बादलों के कृष्ण वर्ण की आदिवासियों के कृष्ण वर्ण से तुलना कर बिजली (इंद्र के वज्र) और बादल (मेघ) के संघर्ष के मूल अर्थ को छुपा कर उसे आर्य-दस्यु युद्ध की कल्पना में बदल दिया। ध्यान रहे कि ऋग्वेद के 7/17/14 मंत्र के बारे में सायण ने कृष्ण का अर्थ मेघ की काली घटा किया है। वैदिक इंडेक्स के लेखकों ने ऋग्वेद के मंत्र 5/29/10 में अनास शब्द की चपटी नाक वाले द्रविड़ मूलवासी के रूप में व्याख्या की। असल में अनास शब्द का अर्थ चपटी नाक वाला नहीं, बल्कि शब्द न करने वाला अर्थात् मूक मेघ है जिसे इंद्र द्वारा अपने वज्र (बिजली) से छिन्न-भिन्न करते हुए दिखाया गया है। इंडेक्स में मंत्र-संख्या 7/21/5 और 10/99/3 के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि दस्यु लोगों की पूजा-पद्धति भिन्न थी और वे लिंगपूजा करते थे। यास्काचार्य के निरुक्त में इस तरह की पूजा का अर्थ किया गया है अ-ब्रह्मचर्य, न कि देवविरोधी कर्मकाण्ड। वैदिक इंडेक्स द्वारा ऋग्वेद में आर्य और दस्युओं के जिस युद्ध के उल्लेख का मानवीकरण करके ऐतिहासिक घटना के रूप में दिखाया गया, वह असल में प्रकृति की शक्तियों के बीच का युद्ध था। जैसे, इंद्र और वृत्र का युद्ध। इंद्र बिजली का नाम है, जबकि वृत्र मेघ का नाम है। इन दोनों का परस्पर संघर्ष प्राकृतिक युद्ध जैसा है। यास्काचार्य ने भी निरुक्त 2/16 में इंद्र-वृत्र युद्ध को प्राकृतिक माना है।

---

[64] प्रिचार्ड के विमर्श की यह संक्षिप्त चर्चा टोनी बैलेंटाइन (2002), पूर्वोद्धृत : 38-41, 56-57 से.

[65] *वैदिक इंडेक्स* में किये गये इस अर्थनिरूपण के विद्वानों द्वारा बहुत से खण्डन किये गये हैं. आर्य समाज के संस्थापक और वेदों के विद्वान दयानंद सरस्वती द्वारा किये गये ऋग्वेद के भाष्य से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश संस्कृतज्ञ इस मामले में एक पूरी तरह से ग़लत अर्थनिरूपण कर रहे थे. यहाँ तक कि सायण के भाष्य के सामान्य पाठ से भी इस तरह के युद्ध का कोई ऋग्वैदिक पाठीय प्रमाण नहीं मिलता. स्वयं मैक्स मुलर द्वारा प्रस्तुत सायण के ऋग्वेद संबंधी भाष्य से यह स्पष्ट हो जाता है.

वेदों की नस्लवादी व्याख्या का एक और प्रमुख पहलू था वर्ण शब्द के साथ किया गया खेल। जाति को नस्ल साबित करने का उद्यम इसी के ज़रिये किया गया। चार वर्ण यानी चार जातियाँ, और ऋग्वेद में इन चार जातियों की त्वचा के रंग की भिन्नता का ज़िक्र नहीं है। लेकिन, जैसा कि हमने देखा है कि 1854 की ऊपर चर्चित रचना में मैक्स मुलर ने इनमें से पहले तीन (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को आर्य और शूद्र को अनार्य बताया था। इसके लिए उन्होंने एक ख़ास युक्ति का इस्तेमाल किया। ऋग्वेद में पहले तीन वर्णों को द्विज (यानी जो वैदिक दीक्षा ले सकते हों और बलि दे सकते हों) और 'अ-द्विज' शूद्र का इस कर्मकाण्डीय क्षमता से सम्पन्न न होना बताया गया है। दूसरी तरफ़ ऋग्वेद में आर्य वर्ण को दास वर्ण के बरअक्स रखा गया है। मैक्स मुलर ने इन दोनों बातों को जोड़ कर निष्कर्ष निकाल लिया कि ऋग्वेद की नज़र में शूद्र और दास वर्ण समकक्ष हैं। इस तरह वे वर्ण यानी चमड़ी के रंग को सामाजिक वर्गों की तरह देखते नज़र आये। मैक्डोनाल और कीथ ने भी मैक्स मुलर के नक़्शे-कदम पर चलते हुए वैदिक इंडेक्स में शूद्रों को वर्ण के हिसाब से दास या दस्यु (यानी द्विजों के शत्रु) की श्रेणी में डाल दिया। दोनों लेखकों ने जाति-वर्ण विभाजन के इस समीकरण में से अनुलोम विवाह (ऊँची जाति के पुरुष का नीची जाति की स्त्री के साथ) के प्रचलन की वजह दिखाई, और दावा किया कि जाति जितनी ऊँची होगी, उसमें आर्य रक्त उतना ही अधिक होगा।

इसी मुक़ाम पर यह देखना भी ज़रूरी है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में त्वचा के रंग से संबंधित विषयों को कैसे संसाधित किया गया है। क्या इस साहित्य से भारतीय समाज की जाति-संरचना को नस्ल-आधारित क़रार दिया जा सकता है? अगर ऋग्वेद में वर्णों और जातियों के बीच अंतर को किसी न किसी प्रकार चमड़ी के रंग पर आधारित किया गया होता तो उसके बाद रचे गये संस्कृत के विशाल वाङ्मय में इस बात का कोई न कोई उल्लेख ज़रूर मिलता। दिलचस्प बात यह है कि नस्ली व्याख्या के पैरोकार इस तरह का एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं करा पाए हैं। यहाँ तक कि प्रमुख नव-प्राच्यवादी मोनियर-विलियम्स भी वर्ण का अर्थग्रहण वर्ग, जनजाति, गण और जाति के रूप में करते हैं। ऋग्वेद में भी जहाँ आर्यों और दस्युओं के बीच अंतर किया गया है, वहाँ त्वचा के रंग का मानक इस्तेमाल नहीं किया गया है। तो क्या भारतवासियों के बीच समझ के स्तर पर त्वचा के रंगों के बीच अंतर का अभाव था? अगर वे कोई अंतर करते भी थे, तो क्या उसके साथ कोई मूल्य-प्रणाली या पूर्वग्रह जुड़ा हुआ था? और, क्या यह मूल्यवर्धन नस्ली संरचना की ओर इशारा करता है? माधव देशपाण्डे ने अपनी रचना में पतंजलि के *महाभाष्य* के हवाले से बताया है कि आम तौर पर ब्राह्मणों का रंग गोरा होता था। समझा जाता था कि वे कृष्ण वर्ण के नहीं हो सकते। देशपाण्डे ने नौवीं सदी के सौंदर्यशास्त्री राजशेखर की कृति *काव्यमीमांसा* के ज़रिये भारत में त्वचा के रंगों के भूगोल की जानकारी भी दी है। इसके मुताबिक़ उत्तर भारत गोरे, पूर्वी भारत साँवले, दक्षिण भारत अधिक गहरे रंग और पश्चिमी भारत पीलापन लिए हुए गोरे रंग के लिए जाना जाता है। इस भूगोल में मध्य देश के लोगों की त्वचा गौर, श्याम और कृष्ण रंगों का मिश्रण बताई गयी है।[66] अत्यंत प्राचीन *वशिष्ठ धर्मसूत्र* जानकारी देता है कि परिवार में गोरे रंग की बहू लाने का आग्रह बहुत पुराना है। यानी, कहीं न कहीं बहुरंगी भारतीय समाज में गोरे रंग के मूल्यवर्धन की प्रकृति शुरू से ही विद्यमान थी। लेकिन, क्या इससे यह साबित होता है कि भारतीय समाज में रंग आधारित अलगाव, अवसरों की असमानता और परस्पर घृणा की संरचनाएँ थीं? क्या भारत में रंग और रूप को एक-दूसरे का पर्याय समझा जाता था? यानी गोरा रंग सुंदरता और काला रंग कुरूपता का पर्याय था? क्या विष्णु के दोनों प्रमुख अवतारों (राम और कृष्ण) और अन्य कई पूजनीय देवी-देवताओं का श्याम वर्ण त्वचा के रंग से जुड़ी प्राथमिकताओं के बारे में कुछ नहीं कहता? दरअसल, त्वचा के विविध रंगों से सम्पन्न एक बेहद

---

[66] माधव देशपाण्डे ((1993), (छठा अध्याय : 'राजशेखर ऑन एथ्निक ऐंड लिंगुइस्टिक जियोग्राफ़ी इन इंडिया') : 83-108.

विशाल समाज की संस्कृति-बहुल संरचना में रंग और दैहिकता के जन्मना मानकों के आधार पर कुछ पूर्वग्रहों का होना स्वाभाविक ही है, लेकिन उन पूर्वग्रहों को दो या तीन विशालकाय नस्ली समुदायों के आपसी टकराव की तरह नहीं देखा जा सकता।

फिर, प्रश्न उठता है कि ब्रिटिश संस्कृतज्ञ ऋग्वेद समेत अन्य संस्कृत-ग्रंथों में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध न होने के बावजूद भारतीय सभ्यता का नस्ली सिद्धांत बनाने पर क्यों तुले हुए थे? ट्राउटमान के शब्दों में कहें तो 'ब्रिटिश संस्कृतज्ञ नस्ल को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते थे। वे भारतीय इतिहास में भाषा और नस्ल के वास्तविक संबंधों का अपना विन्यास निर्धारित करने के लिए संकल्पबद्ध थे। भारतीय सभ्यता का नस्ली सिद्धांत उन्हीं की गढ़ंत थी। यह विन्यास एक समझौता था जिसके तहत भाषा संबंधी और नस्ल संबंधी इतने प्रभावी तौर पर दावेदारियाँ स्वीकार कर ली गयी थीं कि इसका असर आज तक वैसा ही है।'[67] इसके पीछे के एक दूसरे अहम कारण का अनावरण बैलेंटाइन ने भी किया है। वे विस्तार से बताते हैं कि इंग्लैंड, आयरलैंड, स्कॉटलैंड और वेल्स के बौद्धिक थियेटर में उस समय एक बड़ी चिंता यह तय करने की थी कि केल्टिक लोगों और अंग्रेज़ों की सही-सही नस्ली-अस्मिता क्या है। यह देख कर ताज्जुब हो सकता है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में दुनिया के सबसे बड़े और शक्तिशाली उपनिवेशक देश में सामाजिक चिंतन के महारथी, राजनेता और धर्म गुरु कहीं न कहीं दुनिया में अपनी प्रजातिमूलक हैसियत को लेकर चिंतित थे। डेनियल डिफ़ो और आर.जी. लैथम जैसे विद्वानों और रचनाकारों की मान्यता थी कि अंग्रेज़ों पर स्यामी, ग्रीक, रोमन और जर्मनिक संस्कृति और प्रजाति की मिली-जुली छाप है, इसलिए उन्हें कमोबेश संकर नस्ल का माना जा सकता है। इस दावेदारी के गर्भ से यह प्रश्न निकला कि इनमें से किस छाप का पलड़ा भारी है? यही थी वह बहस जिसके भीतर सेक्सन बनाम केल्ट, अंग्रेज़ी भाषा बनाम वेल्श और आयरिश भाषाएँ, प्रोटेस्टेंट बनाम कैथॉलिक के द्विभाजन तैर रहे थे। डेविड ह्यूम ने अपनी रचना हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैंड (1778) में दावा किया था कि सेक्सन लोगों का उद्‌गम जर्मनिक है, और वे 'अधम' ब्रिटनों (यानी स्कॉट, आयरिश और वेल्स) जैसे नहीं हैं। इसके बाद कई इतिहासकारों ने एंग्लो-सेक्सन विरासत और जर्मनिक संस्कृति के संबंधों को पुष्ट करने वाली किताबें लिखीं। दूसरी तरफ़ स्कॉटिश, आयरिश और वेल्सियन विद्वान यह दिखाने में लगे हुए थे कि उनकी पुरानी भाषाओं का संस्कृत से आनुवंशिक संबंध है और इसीलिए उन्हें युरोपियन संस्कृति के हाशिये पर स्थित न मान कर उसके मर्म में स्थित मानना चाहिए।[68]

इस प्रश्न का एक और उत्तर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में युरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित नस्लवादी आग्रहों के प्रभाव में तलाशा जा सकता है। गृह युद्ध के बाद अमेरिका के दक्षिणी हिस्से में और दक्षिण अफ्रीका में गोरे बनाम काले का नस्ली विभाजन मुख्य रूप से इसका कारण लगता है। ख़ासकर उन्नीसवीं सदी में दासता के उन्मूलन के बाद एंग्लो-सेक्सन प्रभुत्व वाले समाजों में नस्ली अनिवार्यतावाद के विचारधारात्मक प्रभुत्व के तहत श्वेतों और अश्वेतों के बीच के संबंध संसाधित हो रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश संस्कृतज्ञ सुदूर अतीत में जा कर 'गोरे' आर्यों और 'काले' द्रविड़ों के बीच कथित संघर्ष को इसी विचारधारा के तहत एक ख़ास साँचे में ढाल रहे थे।

नस्ली सिद्धांत में जनगणना की भूमिका

इस विमर्श ने पूरे भारत को चार वर्णों के खाँचे में फ़िट करने के नव-प्राच्यवादी आग्रह को भी बल प्रदान किया। भारत के चौथे वायसराय लॉर्ड मेयो ने 1871 में अखिल भारतीय जनगणना शुरू की। इसके दायरे में वे इलाक़े भी आये जिन पर अंग्रेज़ों की सीधी हुक़ूमत थी, और वे भी जो देशी रियासतों

---

[67] देखें, थॉमस आर. ट्राउटमान (1997), पूर्वोद्धृत : 203.

[68] देखें, टोनी बैलेंटाइन (2002) : 38-41, 'प्रिचार्डियन एथ्नॉलॉजी ऐंड द एंग्लो-सेक्सन रिवाइवल'.

के तहत आते थे। इसकी ज़िम्मेदारी प्रशासनिक सेवा के अफ़सरों को दी गयी। नव-प्राच्यवादी विमर्श के प्रभाव में ये अधिकारी चातुर्वर्ण्य के विचार से लैस हो कर भारतवासियों की गिनती करने निकले। उन्होंने मुसलमानों, यहूदियों, ईसाइयों, बौद्धों, सिखों और जैनों को छोड़ बाक़ी पूरे भारतीय समाज को चार वर्णों में श्रेणीबद्ध करने की भरपूर कोशिश की। लेकिन, यह काम आसान साबित नहीं हुआ। जनगणना कर्मचारी जब आम जनता के बीच गये तो उन्होंने पाया कि लोगों के दिमाग़ में अपने वर्ण को लेकर स्पष्ट धारणा नहीं है। एक तरह से कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों से सीख कर चातुर्वर्ण्य के आईने में देखी गयी भारतीय समाज की छवि ग़लत साबित हुई। स्वयं अंग्रेज़ों ने माना कि यह जनगणना त्रुटिपूर्ण है और पूरे भारत की आबादी को वर्गीकृत करने का कोई सामान्य सिद्धांत प्रोजेक्ट करने में नाकाम रही है। भारत की आबादी कोई 23 करोड़ निकली जिनमें मोटे तौर पर पंद्रह फ़ीसदी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज घोषित हो गये, 35 से 40 फ़ीसदी आबादी शूद्र क़रार दी गयी, और बाक़ी को 'आउटकास्ट', 'एब्रोजिनल' और 'ट्राइबल' बताया गया। इसमें एक श्रेणी 'सेमी हिंदुआइज़्ड' लोगों की भी थी। दिलचस्प बात यह है कि चातुर्वर्ण्य पर आधारित सामाजिक संरचना की व्यापक नामौजूदगी के बावजूद जनगणना करने वालों पर प्राच्यवादी विमर्श के ज़रिये स्थापित जाति-व्यवस्था के प्रजातिमूलक आधार पर भारतवासियों को चार वर्णों में वर्गीकृत करने की सरकारी ज़िद ख़त्म नहीं हुई।[69] 1891 की जनगणना रपट में उसके आयुक्त जे.ए. बाइंस ने एक बार फिर दावा किया कि जाति का उद्गम स्पष्ट रूप से प्रजाति में निहित है और यह आर्यों द्वारा गहरे रंग की नस्लों के ख़िलाफ़ संघर्ष का परिणाम है।

1901 में जनगणना आयुक्त के रूप ने एच.एच. राइज़ली (जिनके नृजाति-विमर्श के बारे में ऊपर चर्चा की जा चुकी है) ने नये सिरे से इसी ज़िद को आगे बढ़ाते हुए तय किया कि वे हिंदू जातियों को उनके स्थानीय संदर्भ में वर्णानुसार श्रेणीबद्ध करेंगे। इसमें कोई शक नहीं कि पहली जनगणना के मुक़ाबले यह एक कहीं नफ़ीस क़वायद थी। एक बार फिर अगर जातियों का आधार वर्ण आधारित नस्ल थी, तो राइज़ली को गिनती करते समय जाति की कोई न कोई समरूप अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए थी। लेकिन अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद वे ऐसा कुछ भी हासिल करने में नाकाम रहे। इस विफलता के बावजूद 1903 में प्रकाशित हुई उनकी रपट भारतीय आबादी की नस्ली संरचना के 'तथ्यों' की दावेदारियों से भरी हुई दिखी। मसलन, उन्होंने इस रपट में फिर से लिखा कि जाति-व्यवस्था उस समय बनी जब लम्बे, गोरे और तीखी नाक वाले आर्यों ने उत्तर दिशा से भारत में प्रवेश किया और उनका मुक़ाबला ठिगने, साँवले और चपटी नाक वाले द्रविड़ों से हुआ। अपनी नस्ल की शुद्धता क़ायम रखने और नस्लों का मिश्रण रोकने के लिए आर्यों ने स्थानीय प्रजाति के साथ विवाह करने पर प्रतिबंध लगा दिये। इसी तरह के प्रतिबंधों से उस संरचना का क्रमिक विकास हुआ जिसे जाति कहा जाता है।[70]

बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक ब्रिटिश प्रशासन इस विश्वास में पूरी तरह से डूब चुका था कि वे भारत में काकेशस से आये आर्यों के ही वंशज हैं। अंतर केवल इतना है कि आर्यों की अगली पीढ़ी के रूप में उनका आगमन ज़रा देर से हुआ है। उन दिनों वी.ए. स्मिथ द्वारा रचित और 1919 में प्रकाशित *द ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया* के ज़रिये इंडियन सिविल सर्विस के उम्मीदवार और उच्च शिक्षा के छात्र

---

[69] 1871 की जनगणना की समस्याओं के लिए देखें, https://www.scribd.com/document/192702765/Census-of-India-1871, 20 जुलाई, 2017 को देखा गया. इसके अलावा देखें, पद्मनाभन समरेंद्र (2011) : 51–58. यहाँ नोट करने लायक़ बात यह है कि कुछ विद्वान पहली औपनिवेशिक जनगणना की बिल्कुल ग़लत तस्वीर पेश करते हैं. उन्होंने दिखाया है कि 1871 की जनगणना में ही अंग्रेज़ भारतीय समाज को चार वर्णों में श्रेणीबद्ध करने में कामयाब हो गये थे. हो सकता है कि ब्राह्मणवाद विरोधी उत्साह में और 'हिंदू' नामक श्रेणी को ही पुनरुत्थानवादी और बुनियादपरस्त साबित करने की उत्सुकता में उन्होंने यह लिख दिया हो, लेकिन तथ्य यह है कि इस इरादे के बावजूद 1901 में भी हर्बर्ट राइज़ली जैसे जनगणना आयुक्त चातुर्वर्ण्य की ग्रिड भारतीय समाज पर आरोपित करने की जद्दोजहद में लगे हुए थे लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही थी.

[70] एच.एच. राइज़ली (1903) : 555.

पढ़ाई करते थे। यह इतिहास उन्हें बताता था, 'वैदिक ऋचाओं की मदद से एक काफ़ी हद तक सुसंगत तस्वीर बनाई जा सकती है कि आर्य आक्रमणकारियों पर काले रंग और चपटी नाक वाले उन लोगों का पहला प्रभाव किस तरह का पड़ा होगा जिन्होंने उनका मुक़ाबला किया था और जो उनकी प्रजा थे।'[71]

सभ्यता के नस्ली सिद्धांत का प्रभाव

भाषाई विचारधारा की इस विकृति का परिणाम युरोप के लिए भी विनाशकारी निकला, और भारत के लिए भी। बीसवीं सदी के युरोप में इसने नाज़ियों को उनका नस्ली सिद्धांत मुहैया कराया। भारतीय ज़मीन पर भाषा परिवारों की बौद्धिक राजनीति ने इस धारणा को बद्धमूल कर दिया कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया था, और उनके साथ आये ब्राह्मणों (और द्विजों) ने यहाँ के मूल निवासियों (द्रविड़, आदिवासी और कमज़ोर जातियाँ) पर संस्कृत भाषा थोपी।[72] आज हमारे पास घटनाओं की पश्चात्-दृष्टि है जिसके आधार पर हम सिंहावलोकन कर सकते हैं। जितना देखते हैं उतना ही लगता है कि उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा से निकले आर्य-श्रेष्ठता के इस नस्ली सिद्धांत ने भारतीय समाज में विकृतियाँ ही विकृतियाँ पैदा कीं। पहली, सबसे बड़ी और दूरगामी असर डालने वाली विकृति थी हिंदू धर्म का एकाश्म और एकेश्वरवादी 'क्रिश्चियन' पाठ जिसे एक ग्रिड की तरह उसकी नैसर्गिक बहुलता और ग्रहणशीलता के ऊपर आरोपित कर दिया गया। दूसरी उल्लेखनीय विकृति थी मार्शल रेस अर्थात् सामरिक प्रजाति की अवधारणा की स्थापना जिसके आधार पर समुदायों की क्षमताओं के बीच नस्ली अंतर किया जाने लगा। तीसरी और स्थायी प्रभाव डालने वाली विकृति थी नाना प्रकार की आर्य-केंद्रित अस्मिताओं की रचना-प्रक्रिया। इन तीनों विकृतियों में ब्रिटिश संस्कृतज्ञों, युरोप के भाषा-आधारित नृजाति-विज्ञानियों, औपनिवेशिक प्रशासकों और उपनिवेशवाद के साथ अन्योन्यक्रिया से उपजे राजनीतिक-सांस्कृतिक-सामाजिक अभिजन की अपनी-अपनी भूमिका थी। तीनों ही विकृतियों पर समाज-विज्ञान के क्षेत्र में विशाल साहित्य उपलब्ध है, पर यहाँ विषयानुकूल ढंग से तीनों का संक्षेप में विश्लेषणात्मक विवरण पेश किया जा रहा है।

■ रोज़ाने रोशर ने वारेन हेस्टिंग्ज़ के ज़माने पर किये गये अपने शोध में दिखाया है कि नव-प्राच्यवाद हिंदू धर्म की एक ऐसी व्याख्या करना चाहता था जिसमें शंकराचार्य (शैव मत), मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य (वैष्णव मत) जैसे दार्शनिकों और धर्म-निर्माताओं के हस्तक्षेप का भी कोई मूल्य न रह जाए। नव-प्राच्यवाद के शुरुआती महारथियों में से एक कोलब्रुक का एक छोटा-सा कथन इस बारे में काफ़ी कुछ कह जाता है, 'अगर वेदों के मतवाद और यहाँ तक कि पुराणों के मतवाद की भी नज़दीकी जाँच की जाए तो हिंदू धर्मशास्त्र एकेश्वरवाद के साथ समरस नज़र आएगा, भले ही उसमें बहुदेववाद और मूर्तिपूजा के बीज रहे हों।' कोलब्रुक की मान्यता थी कि शंकर, मध्व और वल्लभ बेकार की बहसों में उलझ कर विष्णु, शिव और सूर्य की एकता को समझने में नाकाम रहे।[73] जिस त्रिदेव को कोलब्रुक विष्णु, सूर्य और शिव के रूप में दिखा रहे थे, उसे उनसे पहले जॉन हॉलवेल ब्रह्मा (सृष्टिकारक), विष्णु (सृष्टिपालक) और महेश (सृष्टिनाशक) के रूप में एक ही परमात्मा की निर्मिति के रूप में दिखा चुके थे (त्रिदेव की अंग्रेज़ों द्वारा प्रचलित यह सरलीकृत समझ आज तक

---

[71] वी.ए. स्मिथ (1919) : 85.

[72] हेनरी थामस कोलब्रुक, जिन्हें संस्कृत का सबसे बड़ा नव-प्राच्यवादी विद्वान माना जाता है, को यक़ीन था कि ब्राह्मणों के क़दम भारत में विजेताओं की तरह पड़े होंगे. संस्कृत भाषा के वाहक ये ब्राह्मण शकों और तुर्कों की तरह आक्रमणकारियों के रूप में ही आये थे. मैक्स मुलर ने इस थीसिस को अपने चरम पर पहुँचाया. अपने जीवन के आख़िरी दौर को छोड़ कर वे लगातार यह दावा करते रहे कि भारत आक्रमणकारियों के रूप में आये गोरे रंग के सभ्य आर्यों और काले रंग के असभ्य और बर्बर मूलवासियों में बँटा हुआ था.

[73] देखें, रोज़ाने रोशर और लुडो रोशर (1993) : 44.

जन-जन में व्याप्त है)। इसके आधार पर उन्होंने हिंदू धर्म का एक एकेश्वरवादी ढाँचा गढ़ा, जो बिब्लिकल धर्म के ढाँचे जैसा ही था। हॉलवेल ने तो यहाँ तक दावा किया कि *ओल्ड टेस्टामेंट* और *न्यू टेस्टामेंट* को सही तरीक़े से समझने के लिए हिंदू वेद, वेदांगों और अन्य शास्त्रों का उपयोग किया जाना चाहिए; इसी तरह हिंदू धर्म को समझने के लिए *बाइबिल* के विमर्श की उपयोगिता पर ध्यान दिया जाना उचित होगा। हॉलवेल ये सब बातें 1765 से 1771 के बीच लिख रहे थे। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इसी के बाद अस्सी के दशक में विलियम जोंस शब्द-सादृश्य के ज़रिये 'जेनेसिस' के किरदारों और दृष्टांतों की पुष्टि को हिंदू पुराणों में वर्णित चरित्रों और कथाओं के साथ करते नज़र आये।

असल में नव-प्राच्यवाद के पास उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के आधार पर भारत और हिंदू धर्म को समझने के तीन बुनियादी मानक थे। पहला वेद-केंद्रीयता, दूसरा संस्कृत-केंद्रीयता और तीसरा आर्य-केंद्रीयता। इसमें धर्म की 'स्पिरिट' या सार की व्याख्या केवल एक ही ईश्वर में आस्था के रूप में की गयी, और एक से अधिक देवताओं की पूजा को या तो इस सार में आयी विकृति के रूप में पेश किया गया, या फिर एक ऐसे विचलन के रूप में जिसके तहत मूर्तियों के रूप में एक ही परमात्मा की प्रतीकात्मक आराधना की जाती है। इसके लिए जिस युक्ति का इस्तेमाल किया गया, वह मुख्यत: धर्म के इतिहास का लेखन थी। इसके ज़रिये हिंदू धर्म के वर्तमान को विकृति की और अतीत को उसके शुद्ध सार की अभिव्यक्ति क़रार दे दिया गया। परिणामस्वरूप हिंदू धर्म के अध्ययन की परिपाटी उसके अतीत का अध्ययन करने तक सीमित हो कर रह गयी। इससे अंग्रेज़ों को हिंदू धर्म पर इस्लामिक प्रभावों से पैदा हुई जटिलता से न केवल कतरा कर निकल जाने का मौक़ा मिल गया, बल्कि उन्होंने हिंदू अंधविश्वासों और कर्मकाण्डीय जकड़बंदी को मुस्लिम राजनीतिक प्रभुत्व की प्रतिक्रिया भी क़रार दे दिया। हिंदू सार का मतलब रह गया मुसलमानों से पहले का हिंदू धर्म। जहाँ तक भारत की धरती पर मुसलमानों की सैकड़ों साल से चली आ रही उपस्थिति का सवाल था, इन थीसिस ने उन्हें अरब, पठान, अफ़गान, मंगोल, तातार और ईरानी के तौर पर दिखाया, और बहुत बड़ी देशज मुसलमान आबादी को मनमाने ढंग से अदृश्य कर दिया। यही थी वह बौद्धिक पृष्ठभूमि जिसकी रोशनी में दिखाई पड़ता है कि हेस्टिंग्ज़ के कार्यकाल को मुसलमानों के 'उत्पीड़नकारी' वर्चस्व से मुक्त करके 'हिंदू-एनफ्रैंचाइज़मेंट' का उद्यम क्यों कहा जाता है।[74]

■ अस्मिता-रचना के संदर्भ में उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा का असर बहुआयामी पड़ा। उपनिवेशवाद से अन्योन्यक्रिया कर रहे भारतीय राजनीतिक और सामाजिक अभिजन के प्रतिनिधियों ने इसका अपनी-अपनी सामाजिक स्थिति के मुताबिक़ अर्थग्रहण करते हुए नाना प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक परियोजनाओं में सभ्यता के नस्ली सिद्धांत का इस्तेमाल किया। जिन्होंने स्वयं को विजेता आर्यों के नुमाइंदों के रूप में देखा, उनमें से कुछ आर्यावर्त और वैदिक अतीत के गौरवगान में लग गये ताकि उसके आधार पर 'भव्य हिंदू परम्परा' से प्राप्त सामग्री के आधार पर आधुनिक 'हिंदू' भारतीय राष्ट्र की नींव डाली जा सके। इस श्रेणी में वे शक्तियाँ आती थीं जो उपनिवेशवादियों के मुक़ाबले नरम या गरम रणनीतियों के आधार पर विभिन्न डिग्रियों में 'स्वराज' की दावेदार थीं। इन शक्तियों को लगता था कि भविष्य के स्वाधीन भारतीय राष्ट्र की बुनियाद आर्य-प्रभुत्व के बिना नहीं पड़ सकती। कुछ ने इसका इस्तेमाल ब्रिटिश राज के साथ भारतवासियों की नस्ली रिश्तेदारी दिखाने के लिए किया ताकि उपनिवेशकों के प्रति उनके कृतज्ञताभाव में से हीनता-बोध का प्रक्षालन किया जा सके। जिन्होंने अपने आप को विजित द्रविड़ों और अन्य मूलवासियों की तरफ़ झुका हुआ पाया,

---

[74] हेस्टिंग्ज़ के ज़माने यानी अठारहवीं सदी के सातवें से लेकर दसवें दशक तक प्रकाशित हिंदू धर्म पर ब्रिटिश संस्कृतज्ञों की सभी रचनाओं में यह उद्यम स्पष्ट रूप से अंतर्निहित देखा जा सकता है. इसी दौरान प्रकाशित लुक स्क्रैफ़्टन, जॉन हॉलवेल, क्वेंटिन क्रॉफ़र्ड, विलियम रॉबर्ट्सन, नैंथियल हैलहेड और एलेक्ज़ेंडर डाउ की कृतियाँ और अनुवाद इसके प्रमाण हैं.

वे इस आर्यवाद के ख़िलाफ़ अपने समुदायों की सामाजिक हैसियत बढ़ाने के लिए नस्ली आधार पर विराट आख्यानों की रचना करने में जुट गये। दूसरी तरफ़, युरोप के बौद्धिक जगत में इसका भले ही खण्डन हो गया हो, लेकिन भारत में औपनिवेशिक हुकूमत के मर्म में इस धारणा का भरपूर प्रभाव बना रहा। हम देख चुके हैं कि किस तरह औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रमुख स्रोतों में से एक समझी जाने वाली दशवार्षिकी जनगणना पर आर्य-अनार्य का द्विभाजन हावी था। यहीं नहीं, 1857 की घटनाओं के बाद जब औपनिवेशिक भारत की बागडोर कम्पनी के हाथ से सीधे महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गयी तो ब्रिटिश-इंडियन फ़ौज में भर्ती के लिए आर्य और अनार्य भारतवासियों के बीच अंतर किया जाने लगा। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि विभिन्न स्तरों और विभिन्न हलक़ों में नाना प्रकार की देशज अस्मिताओं की निर्मिति हो रही थी, लेकिन तक़रीबन हर जगह कमोबेश आर्यवाद की छाप क़ायम थी। कहीं समर्थन के रूप में, कहीं उसके विरोध के रूप में। नीचे दिये गये उदाहरणों से ज़ाहिर हो जाता है कि संस्कृत, ऋग्वेद, आर्य, द्रविड़, मूलवासी जैसे प्रत्ययों से बना भारतीय सभ्यता का नस्ली सिद्धांत किस-किस तरीक़े से स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा था।

1876 में जयपुर के महाराज के कॉलेज के प्रधानाचार्य कृष्ण बिहारी सेन मैक्स मुलर के इस दावे से गद्गद होते हुए दिखाई पड़े कि भारतीय और युरोपीय 'आर्य बंधु' हैं, और उनकी यह एकता भविष्य की शांति और भाईचारे के लिए ज़मीन तैयार करेगी। एक साल बाद मैक्स मुलर के मित्र केशव चंद्र सेन ने दलील दी कि ब्रिटिश राज ने दो बिछड़े हुए भाइयों को मिला दिया है, उन भाइयों को जो प्राचीन आर्य नस्ल के भिन्न-भिन्न परिवारों के वंशज हैं। सेन को यक़ीन था कि ब्रिटिश राज दो राष्ट्रों के बीच हितों की सच्ची एकता और दोनों के प्रताप को स्थायित्व प्रदान करेगा। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन के मानद सदस्य कृष्ण मोहन बनर्जी को उम्मीद थी कि वेदों और हिंदू-इतिहास का फ़िलॉलॅजीकल पाठ करने से अंग्रेज़ों के बीच यह साबित किया जा सकता है कि हिंदुस्तान 'ब्लैक-प्लेस' या 'नीग्रो-लैंड' न हो कर उनका सांस्कृतिक बिरादर है। ख़ास बात यह है कि बनर्जी ईसाई धर्म क़बूल कर चुके थे, और उनकी दिलचस्पी इस बात में थी कि वेदों और ईसाई धर्मशास्त्र के बीच ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के ज़रिये संबंध निकाला जा सके। बनर्जी की निगाह में वेदों के मनु दरअसल इंडो-आर्य नूह ही थे। बनर्जी ने नज़दीकी दोस्त और ईसाई बन चुके रामचंद्र घोष ने तो इसी तर्ज पर एक किताब ही लिख डाली जिसमें दावा किया गया था कि ब्राह्मणों ने वेदों की आम जनता तक पहुँच रोक दी थी, पर युरोपीय भारतविद्याविदों ने इस शरारत का प्रतिकार करते हुए हिंदू मानस का आधुनिकीकरण करने के लिए वेदों को लोगों तक पहुँचा दिया है।[75]

टोनी बैलेंटाइन ने आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती को भी ऐसे ही भारतीयों की श्रेणी में रखने की कोशिश की है जो आर्य प्रजाति की वैश्विक अवधारणा के समर्थक थे। लेकिन, दयानंद की रचना *सत्यार्थ प्रकाश* पर पहली नज़र डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि उनका चिंतन वैदिक स्वर्णयुग के मुक़ाबले भारत की उत्तरोत्तर गिरावट के नव-प्राच्यवादी विचार से तो मेल खाता था, लेकिन वे ईसाई-पश्चिम (उनकी भाषा में 'जंगली लोग') और आर्यावर्त में रहने वाले वैदिक आर्यों के बीच कोई नस्ली संबंध मानने के लिए तैयार नहीं थे। दयानंद के लिए आर्य की अवधारणा का नस्ल से संबंध नहीं था। वे मानते थे कि केवल आर्यावर्त ही आर्यों का एकमात्र गृह प्रदेश था, और वैदिक रास्ते पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति आर्य बन सकता था, यहाँ तक कि धर्मांतरण करके मुसलमान बन चुके कमज़ोर जातियों के हिंदुओं को भी 'शुद्धि' के ज़रिये आर्य बनाने का कार्यक्रम उनके पास था।[76] इस लिहाज़ से आर्य-अवधारणा

---

[75] देखें, टोनी बैलेंटाइन (2003), पूर्वोद्धृत : 173-176.

[76] देखें, विख्यात आर्य समाजी बुद्धिजीवी हर बिलास शारदा की दो रचनाएँ, 1946 में अजमेर से प्रकाशित *लाइफ़ ऑफ़ दयानंद सरस्वती,* और 1906 में प्रकाशित *हिंदू सुपीरियोरिटी.*

के तहत हिंदू मानस को वेद-केंद्रित (एक तरह से अहले-किताब) बनाने का उद्यम तो उन्होंने चलाया, लेकिन उनका विमर्श मुख्य रूप से ग़ैर-नस्ली था।[77]

इसके उलट भारतीय उदारतावाद के पितामह समझे जाने वाले महादेव गोविंद रानाडे (जो नरमदली बालकृष्ण गोखले के मार्गदर्शक थे) और 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' का रैडिकल नारा देने वाले गरमदली बाल गंगाधर तिलक के बीच जो भी मतभेद रहे हों, आर्य-श्रेष्ठता की नव-प्राच्यवादी नस्ली दावेदारियों के मामले में उनके बीच पूरी एकता थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक सदस्य रानाडे की स्पष्ट मान्यता थी कि ईश्वर ने भारत का कल्याण करने की ज़िम्मेदारी आर्य नस्ल के हाथों में ही दी है, और समाज पर पतनकारी प्रभाव डालने वाले जाटों, मुसलमानों और द्रविड़ों के ख़िलाफ़ आर्यों को लगातार संघर्ष करना होगा। बंगाली राष्ट्रवादी राजनारायण बसु कहते थे कि ऊँची जाति के द्रविड़ दरअसल आर्य ही हैं। तिलक ने अपनी दो रचनाओं, 1892 में प्रकाशित *ओरियन, ऑर रिसर्चेज़ इनटू द एंटिक्विटीज़ ऑफ़ द वेदाज़* और 1903 में प्रकाशित *द आर्कटिक होम ऑफ़ वेदाज़,* में दावा किया कि ईसा से आठ हज़ार पहले अपने गृह आर्कटिक में अत्यधिक बर्फ़ीली जलवायु के कारण आर्यों को युरोप और मध्य एशिया की तरफ़ जाना पड़ा। अंत में वे आव्रजन करते हुए दक्षिण की तरफ़ भारत तक चले आये।

तिलक ने यह भी दावा किया कि युरोप में बसे आर्य बर्बरता के गर्त में गिरते चले गये, जबकि भारतीय आर्यों ने अपनी सांस्कृतिक नफ़ासत और फ़ौजी क्षमता को क़ायम रखा जिसकी अभिव्यक्ति वेदों में होती है। इंडो-आर्यन श्रेष्ठता को समझने लायक़ दृष्टि प्रदान करने के लिए तिलक ने मैक्स मुलर के प्रति कृतज्ञता भी व्यक्त की। आर्य श्रेष्ठता का एक बड़ा मानक तिलक की निगाह में देवनागरी लिपि भी थी। उनकी दलील थी कि भाषाई मानकीकरण के लिए भारत में देवनागरी लिपि का ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए, क्योंकि अगर इसके लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया गया तो स्वरविज्ञान (फ़ोनोलॅजी) की कसौटी पर भाषाएँ खरी नहीं उतर पाएँगी। वे यह भी मानते थे कि देवनागरी में ही द्रविड़ अक्षरों को अपने साथ जोड़ने की क्षमता है। तिलक अपने आक्रामक और समझौताहीन राष्ट्रवाद के लिए जाने जाते थे। आर्य संदर्भ में उनके जुझारूपन की अभिव्यक्ति युरोपीय आर्यों के अतीत पर भारतीय आर्यों की श्रेष्ठता दर्शाने में होती थी। इन उदाहरणों से ज़ाहिर होता है कि भारत में आर्य-श्रेष्ठता का विचार नाना प्रकार से संसाधित हो रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिए लाभदायक मानने वाले, उसे हानिकारक मानने वाले, भारत को एकसूत्र में बँधे देखने के इच्छुकों और द्रविड़ों व आर्यों के बीच ही नहीं बल्कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच समानता या भिन्नता दिखाने वाले बुद्धिजीवियों ने इस विचार का अपने-अपने हिसाब से इस्तेमाल किया। जो एकता और भाईचारा दिखाना चाहते थे, उन्होंने तर्क दिया कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही आर्यों की महिमा में बराबर के भागीदार हैं। जो दोनों के बीच टकराव दिखाना चाहते थे, उन्होंने उच्च कोटि के आर्य-आदर्श से हुई गिरावट के लिए मुसलमान शासन की लम्बी अवधि को ज़िम्मेदार ठहराया।[78] युरोप में नाज़ियों और फ़ासीवादियों के बीच प्रचलित आर्य-श्रेष्ठता के विचार ने भी भारत में कई तरह की राजनीतिक शक्तियों पर अपना प्रभाव डाला। इनमें हिंदू राष्ट्रवादी प्रमुख थे, यद्यपि हिंदू-रेस के जिस आग्रह की अभिव्यक्ति उनके साहित्य में मिलती है, वह जैविक कम सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभुत्व की दावेदारी अधिक प्रतीत होती है।[79]

---

[77] आर्य समाज नव-प्राच्यवादियों द्वारा किये गये वेदों के अनुवाद और अर्थग्रहण का भी कड़ा आलोचक था. इस मामले में आर्य समाज की गुरुकुल शाखा के नेता गुरुदत्त विद्यार्थी (1864-1890) मैक्स मुलर, जॉन म्युर और मोनियर विलियम्स की स्थापनाओं का विस्तृत प्रतिवाद किया था. देखें, माइकिल एस. डॉडसन (2010) : 35-51.

[78] देखें, टोनी बैलेंटाइन (2003), पूर्वोद्धृत : 179-182.

[79] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक गोलवलकर 'नस्ल' और राष्ट्र के जिस समीकरण का आग्रह करते हैं वह जैविक

■ 1857 के विद्रोह के बाद भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने फ़ौज की भर्ती के लिए आर्य-श्रेष्ठता के विचार को अपना मुख्य हथियार बनाया। ब्रिटिश-इंडियन आर्मी का यह अधिकारिक मानक था। इसके गर्भ से मार्शल रेस (सामरिक प्रजाति) की धारणा का जन्म हुआ। हालाँकि आज़ादी के बाद भारतीय सेना ने इस मानक को घोषणापूर्वक त्याग दिया, लेकिन इससे समाज में नस्ली रूप से पराक्रमी और भीरु की रूढ़ छवियाँ जम गयीं तो आज भी प्रभावी बनी हुई हैं। जैसे ही रानी विक्टोरिया के हाथ में भारतीय उपनिवेश की लगाम आयी, एक नीतिगत फ़ैसले के तहत दक्षिण भारत और बंगाल को फ़ौजी भर्ती से वंचित करके नेपाल, पंजाब और राजस्थान को उसका केंद्र बना दिया गया। कहा गया कि इन क्षेत्रों में इस उपमहाद्वीप की मार्शल नस्लें रहती हैं जिनकी मर्दानगी और सैन्य क्षमता अन्य क्षेत्रों में रहने वालों से कहीं ज़्यादा है। बीसवीं सदी आते-आते यह नीति पूरी तरह से जड़ जमा चुकी थी। चातुर्वर्ण्य में क्षत्रियों के लिए सुरक्षित युद्धप्रियता के तहत राजपूताने को वीर-भूमि का दर्जा मिल गया। पंजाब वीर-भूमि इसलिए था कि वह वैदिक आर्यों का गृह-प्रदेश माना जाता था। एक विद्वान ने इस परिघटना को 'मिलिटरी ओरिएंटलिज़म' की संज्ञा दी है। उत्तर के लम्बे-तगड़े और गोरे आर्य पराक्रमी घोषित कर दिये गये, और दक्षिण और पूर्व के साँवले वासी दब्बू और भीरु कहे जाने लगे।

■ नव-प्राच्यवादी विमर्श और उपनिवेशवाद के साथ अन्योन्यक्रिया करने वाले भारतीय अभिजन के इस जोड़ से जो बौद्धिकता बनी, वही भारत की उत्तर-औपनिवेशिक मानस के एक प्रभावी हिस्से के मानस पर छा गयी। इसी बौद्धिकता ने हमारी राजनीति और सामाजिक सैद्धांतिकी पर द्रविड़ बनाम आर्य का द्विभाजन थोपा। इसी के प्रभाव में भारत का साभ्यतिक आख्यान मुख्य रूप से दो नस्लों के टकराव और गौण रूप से उनके आंशिक मिश्रण की तरह चित्रित किया जाने लगा। यह आख्यान पाठ्यपुस्तकों तक भी पहुँचा, और इसके बूँद-बूँद रिसाव के ज़रिये एक ख़ास तरह की समझ प्रचलित हुई। इसके मुताबिक़ एक नस्ल आक्रमणकारी आर्यों की बताई गयी जिनका वर्णन अपेक्षाकृत गौरांग, संस्कृत-भाषी और सभ्य की तरह किया गया। दिखाया गया कि इसके गर्भ से ब्राह्मणवाद की प्रभुत्वकारी और वर्चस्वी विचारधारात्मक संरचनाएँ निकलीं, और द्विज जातियों के सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक बोलबाले ने जन्म लिया।[80] आर्यों ने जिन पर आक्रमण करके जीता होगा, उनके बारे में कहा गया कि विजेताओं की निगाह में वे अश्वेत, असभ्य और द्रविड़ भाषाएँ बोलने वाले अर्थात् अनार्य थे। इस नस्ली सिद्धांत के तहत द्रविड़ों और अनार्यों को एक-दूसरे का पर्याय मान कर सामाजिक धरातल पर कमज़ोर जातियों को उनका प्रतिनिधि बताते हुए ब्राह्मणवाद विरोधी राजनीतिक-सामाजिक गोलबंदी और क्रांति के विचार का सूत्रीकरण कर दिया गया। इस तरह संस्कृत की प्रमुखता वाले भारोपीय भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार के शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों की काल्पनिक बुनियाद पड़ी।

भारोपीय भाषा परिवार का सूत्रीकरण करते हुए विलियम जोंस के सामने देकार्त से लेकर हर्डर की विद्वत्ता अपने सम्पूर्ण वैभव में पसरी हुई थी। समझा जा सकता है कि अपनी युरो-क्रिश्चियन आस्थाओं ने तो उन्हें भाषाओं के वंशवृक्ष बनाने की तरफ़ धकेला ही होगा, युनिवर्सल ग्रामर जैसे आग्रह भी उन्हें उस मुक़ाम तक ले गये होंगे। इसका प्रमाण जेम्स बीटी (1788) की रचना *द थियरी ऑफ़ लेंग्वेज* में 'युनिवर्सल ग्रामर' की अवधारणा की विस्तृत चर्चा से मिलता है। सार्वभौम भाषा और सार्वभौम व्याकरण भी एक बड़ा

दावेदारियों पर आधारित नस्ली शुद्धता न हो कर दरअसल सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभुत्व का ही एक नाम है जिसे सरसंघचालक ने जर्मन सिद्धांतकारों से प्रभावित होने के कारण नस्ल का नाम दे दिया था. वैसे भी गोलवलकर 'जाति' (एथ्निसिटी) और 'नस्ल' शब्द का उलट-पलट का इस्तेमाल करते रहते थे. असल में, संघ जिस तरह से हिंदू एकता की परियोजना चलाता है, उससे नहीं लगता कि वह नस्ल के आधार पर उत्तर, दक्षिण और पूर्वी भारत के लोगों में फ़र्क़ करने के चक्कर में पड़ेगा. देखें, क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (1999) : 57 (जैफ्रेलो ने यहाँ इतिहासकार ज्ञानेंद्र पाण्डेय के एक अवलोकन का हवाला दिया है).

[80] यद्यपि यह चर्चा भाषाई संदर्भ में नहीं की गयी है, लेकिन ब्राह्मणवाद की अवधारणा से जुड़ी दिक़्क़तों पर एक संक्षिप्त और उपयोगी चर्चा के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2020) : 207-218 (शीर्षक : 'दुष्ट ब्राह्मणवाद' के स्रोत)

कारण है कि तत्कालीन युरोपीय विद्वत्ता भाषाओं के बीच भिन्नता और उनकी विविध वंशावलियों में ज़्यादा दिलचस्पी नहीं दिखाती, बल्कि किसी एक भाषा के ज़रिये उसका वंशवृक्ष बना कर सभी भाषाओं का अध्ययन करना चाहती है। इसके लिए उसे किसी एक प्राचीन भाषा को आदिभाषा घोषित करना पड़ता है, ताकि अपेक्षाकृत अन्य भाषाओं को उसकी संतान बताया जा सके। पश्चिमी संदर्भों में उसके लिए लैटिन और ग्रीक आदिभाषाएँ हैं, भारतीय संदर्भों में उसके लिए संस्कृत और लुप्त हो चुकी द्रविड़ भाषा आदिभाषा है। उसका यह भी दावा है कि इन सारी भाषाओं को जन्म देने वाली एक बुनियादी लुप्त भाषा हिब्रू (यहूदियों की हिब्रू नहीं, बल्कि हज़रत नूह द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली हिब्रू) है जिसे अब खोजा नहीं जा सकता। इसी पैटर्न पर द्रविड़ भाषा परिवार के प्रवर्तकों ने यह घोषित कर दिया कि एक द्रविड़ आदिभाषा कभी रही होगी जिसका तमिल रूप ही बाक़ी रह गया है।

ऐसे विमर्श के परिणामस्वरूप किसी भी भाषा को स्वयं उसके अपने अस्तित्व के दायरे के भीतर और उसके अपने स्वायत्त आधार पर व्याख्यायित करने के बजाय अन्य भाषाओं के साथ उनकी ऐतिहासिक रिश्तेदारी और आत्मीयता के हवाले से व्याख्यायित किया जाने लगा। इसके लिए ज़रूरी था कि व्युत्पत्तियों का सहारा लिया जाता ताकि एक भाषा के शब्दों की व्युत्पत्तियों की तुलना दूसरी भाषा के शब्दों की व्युत्पत्तियों के साथ करके किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचा जा सके। दिलचस्प बात यह थी कि अठारहवीं सदी में भाषाओं पर काम करने वाले युरोपीय विद्वानों के पास व्युत्पत्तियाँ करने के अपने अलग-अलग तरीक़े थे। मसलन, विलियम जोंस को ब्रायंट द्वारा की गयी व्युत्पत्तियाँ पसंद नहीं थीं और उन्होंने उनकी कड़ी आलोचना की थी, लेकिन वे स्वयं भी शब्द-सादृश्य के नाम पर व्युत्पत्तियों का सहारा ले कर ही अपने नतीजों पर पहुँच रहे थे और आज देखें तो उनके द्वारा निर्धारित की गयी बहुत-सी व्युत्पत्तियाँ हास्यास्पद लगती हैं।

ट्राउटमान ने एक और स्थापना की है जो विचारणीय है। उनका विचार है कि तेलुगु के पारम्परिक वैयाकरणों ने देश्य शब्दों की व्युत्पत्ति को संस्कृत या प्राकृत से न बता कर पूरी तरह से तेलुगुभाषी क्षेत्र की देन बताया। ऐसा लगता है कि व्युत्पत्तिशास्त्रीय भाषा-विश्लेषण की परम्परा में पगी कैम्पबेल-इलिस की जोड़ी इसे ले उड़ी और उसे लगा कि इस दक्षिण भारतीय विद्वत्ता में युरोप का लेंग्वेज-नेशन प्रोजेक्ट झलक रहा है। ट्राउटमान का एक और निष्कर्ष इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। भारतीय भाषा-विश्लेषण के तहत प्राकृत के वैयाकरणों ने एक शब्द-राशि को अलग से यह मान कर रेखांकित किया कि पाणिनि के कुछ सूत्रों की मदद से इन शब्दों को संस्कृत से प्राप्त माना जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि ये वैयाकरण संस्कृत की धातुओं पर इस भाषा की रूपावली में हुए बाद के परिवर्तनों को लागू कर रहे थे। ब्रिटिश नव-प्राच्यवादियों ने अपने भाषा-विश्लेषण की परम्पराओं के मुताबिक़ इन संरचनागत परिवर्तनों को ऐतिहासिक दृष्टि से पढ़ा। यद्यपि पाणिनि के सूत्रों की प्रकृति पूरी तरह से संरचनात्मक थी, लेकिन नव-प्राच्यवादियों ने उन्हें ग्रिम के ध्वनि-परिवर्तन से संबंधित नियमों की भाँति ऐतिहासिक परिवर्तन की तरह समझने में कोई देर नहीं की। इस तरह प्राकृत में तत्सम और तद्भव शब्दों का विश्लेषण ऐतिहासिकता के नज़रिये से किया गया। जब देश्य शब्दों का स्रोत तेलुगु वैयाकरणों से स्थानीय प्रदेश के साथ जुड़ा दिखाया, तो नव-प्राच्यवादियों ने इसे भी ऐतिहासिकता के आईने में देखा। ट्राउटमान की मान्यता है कि इस प्रकार पारम्परिक भारतीय भाषा-विश्लेषण द्वारा प्रदर्शित शब्दों में होने वाले नियमित ध्वनि-परिवर्तनों और व्यवस्थित व्युत्पत्तिपरक प्रक्रिया का लाभ नव-प्राच्यवादियों ने अपनी भाषा-राष्ट्र परियोजना के लिए उठा लिया। लेकिन, जैसा कि हम ऊपर माधव देशपाण्डे के हवाले से देख चुके हैं कि भारतीय भाषा-विश्लेषण के संस्कृतप्रधान भाषा-विश्लेषण में किसी भी भारतीय भाषा को संस्कृत-मुक्त नहीं ठहराया जा सकता। न ही वह इतिहासीकरण की पद्धति अपनाता है और उसके पास संस्कृत-उद्गम वाले शब्दों को सार्वभौम और देश्य शब्दों को प्रांतीय मूल्यवत्ता देने की अपनी पद्धति है। ज़ाहिर है कि पश्चिमी भाषा-विश्लेषकों

ने भारत के पारम्परिक भाषा-विज्ञानियों की रचनाओं को अपने ही परिप्रेक्ष्य में फ़िट करके समझा था।

इसी मुक़ाम पर मैं आज के ज़माने के दो प्रमुख भाषा-विश्लेषकों (मुख्यत: हिंदी के लेखक) को इस चर्चा में लाना चाहूँगा। ये हैं रामविलास शर्मा (1912-2000) और भगवान सिंह। दोनों ने ही एक आदिभाषा से अन्य भाषाओं की उत्पत्ति के पश्चिमी सिद्धांत का विस्तार से खण्डन किया है। दोनों ने ही भाषाओं के परिवार बनाने की युरोपियन पद्धति की कड़ी आलोचना की है। यह ज़रूर है कि ये दोनों भाषा-विश्लेषक आदिभाषा और भाषा-परिवार के आग्रहों के पीछे मौजूद बिब्लिकल विचार को नहीं देख पाए, लेकिन इससे इनके मंतव्यों का महत्त्व किसी भी प्रकार से कम नहीं होता।

अपनी कालजयी रचना *भाषा और समाज* की 1960 में लिखी भूमिका में रामविलास शर्मा[81] ने आदिभाषा और भाषा-परिवारों के सिद्धांतों को प्रश्नांकित करते हुए लिखा था :

> आदिभाषा वाला सिद्धांत संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर लागू किया जाता है। संस्कृत क्यों विकृत हुई? अनार्य प्रभाव से? युरोप में आदि आर्यभाषा कैसे विकृत हुई? भारत के पूर्व में ध्वनि-क्षय हुआ, उत्तर में नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? जो विद्वान संस्कृत से प्राकृतों की उत्पत्ति मानते हैं, वे यह भी कहते जाते हैं कि प्राकृतें कृत्रिम हैं। फिर कृत्रिम भाषाओं से सहज आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति कैसे हुई? यदि मूल शब्द-भण्डार और भाव-प्रकृति की दृष्टि से विचार किया जाए तो प्राकृतें संस्कृत से मूलत: भिन्न भाषाएँ सिद्ध नहीं होतीं। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की नसैनी छोड़ देने पर आधुनिक भाषाओं के मूल तत्त्व काफ़ी प्राचीन सिद्ध होते हैं। ... मानव समाज का साधारण नियम है बोलियों का बिखराव। भाषा का परिवार आज के मानव-जीवन की तुलना में आदिम मानव-परिवार के अधिक निकट था जिसमें अजनबी भी शामिल कर लिए जाते थे। जैसे किसी आदि-पुरुष से मानव-परिवार की उत्पत्ति नहीं हुई, वैसे ही किसी आदिभाषा से कोई भाषा-परिवार नहीं बना। ... संस्कृत आदि-भारत-युरोपीय-भाषा का उच्छिष्ट और विकृत रूप न हो कर स्वतंत्र भारतीय भाषा सिद्ध होती है। युरोप की भाषाओं पर संस्कृत और उसके समानांतर बोली जाने वाली भाषाओं का असर पड़ा है, न कि किसी कल्पित आर्य-भाषा से अनार्य सम्पर्क के करण संस्कृत की उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाएँ संस्कृत के समानांतर बोली जाने वाली भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं, न कि वे संस्कृत का विकृत रूप हैं।[82]

दरअसल, रामविलास शर्मा की यह कृति भाषाओं के सामाजिक विकास के सिद्धांत की पुष्टि करती है। इसी डगर पर चलते हुए भगवान सिंह ने युरोपीय भाषा-चिंतन की जो आलोचना की है, वह भी द्रष्टव्य है :

> रामविलासजी का यह मत बहुत सार्थक है कि भाषाओं की तुलना करते समय उनकी समानताओं पर ही नहीं अपितु उनकी भिन्नताओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। यह एक परिवार में परिगणित भाषाओं में ऐसी समानताएँ हैं जो भौगोलिक दूरी के बाद भी बहुत प्राचीन काल से उनमें बनी हुई हैं और इनके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक ही परिवार की भाषाएँ हैं तो उनमें पाई जाने वाली भिन्नताओं का स्रोत क्या है? ... कॉल्डवेल की यह स्थापना सही है कि द्रविड़ भाषाओं की

[81] रामविलास शर्मा वैसे तो 1938 से 1974 तक अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक रहे, पर 1933 में उनकी निराला से मुलाक़ात हुई जिसके बाद से वे हिंदी साहित्य की तरफ़ मुड़ गये. 1934 में *चाँद* में उनका पहला आलोचनात्मक लेख छपा जो निराला पर था. उन्होंने बाद में कविताएँ लिखीं और अज्ञेय द्वारा सम्पादित और हिंदी कविता में युग प्रवर्तक समझे जाने वाले *तार सप्तक* के सात कवियों में से एक बने. उन्हें अपने जीवन काल में ही रामचंद्र शुक्ल और हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिंदी का सर्वाधिक प्रभावशाली बुद्धिजीवी समझा जाने लगा था. आज़ादी के बाद हिंदी मानस बनाने के मामले में उनकी उपलब्धियों को नकारना नामुमकिन है. रामविलास शर्मा की एक और विशेषता थी कि वे कोई पुरस्कार नहीं लेते थे, हालाँकि ज्ञानपीठ को छोड़ कर ऐसा कोई पुरस्कार नहीं है जिसके लिए उनके नाम की घोषणा न की गयी हो. हिंदी की उत्पत्ति और विकास का बेजोड़ भाषाशास्त्रीय अध्ययन करने वाले रामविलास शर्मा के अनुसंधानपरक ग्रंथों की संख्या तीस से ऊपर है. उन्होंने हिंदी जाति की थीसिस का सूत्रीकरण किया जिसे हिंदी-क्षेत्र में उनके बौद्धिक विरोधियों द्वारा भी आत्मसात् कर लिया गया.

[82] देखें, रामविलास शर्मा (2002), पूर्वोद्धृत : 11, 13.

उत्पत्ति संस्कृत से हुई, परंतु यह अधूरी सच्चाई है। पूरी सच्चाई यह है कि भारत की किसी भी भाषा की उत्पत्ति न तो संस्कृत से हुई, न उसमें आये विकारों की परिणिति के रूप में हुई। ... जिन्हें हम आर्यभाषा क्षेत्र कहते हैं उनमें सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती थीं, जिनकी सही पहचान सम्भव नहीं है, परंतु जिनके परस्पर मिलने और कुछ के विलय होने के परिणामस्वरूप इस पूरे भूभाग पर संस्कृत के प्रभाव के कारण आभासिक समानताएँ पैदा हुईं, जिनसे यह भ्रम पैदा होता है कि ये संस्कृत के क्रमिक तद्‌भवीकरण के कारण पैदा हुई हैं। ... पूरा सच यह है कि न तो भारोपीय भाषा की किसी शाखा की कोई उपशाखा किसी भी रीति से भारत में आयी, न ही विशुद्ध आर्य भाषा जैसी किसी चीज़ का कभी अस्तित्व था। भाषाएँ सामाजिक-आर्थिक विकास के क्रम में समृद्ध होती हैं, भिन्न भाषाओं के गहन सम्पर्क में आने पर उनमें बदलाव होता है, परंतु वे न सड़ती हैं, न गलती हैं, न जनन करती है, न ही विघटित होती है।[83]

संस्कृत को सभी भारतीय भाषाओं और विशेषकर हिंदी की जननी मानने की प्रचलित मान्यता का खण्डन करने वाले ये कथन दरअसल संस्कृत के विद्वान और हिंदी के यशस्वी वैयाकरण आचार्य किशोरी दास वाजपेयी (1898-1981) की उस व्यंग्यात्मक टिप्पणी को ही पुष्ट करते हैं जिसमें आचार्यप्रवर ने कहा था कि संस्कृत एक बाँझ भाषा है, वह किसी भाषा को जन्म दे ही नहीं सकती। हिंदी की वह ज़्यादा से ज़्यादा निस्संतान मौसी हो सकती है।[84]

जैसा कि हम देख चुके हैं कि उन्नीसवीं सदी आते-आते राष्ट्र, भाषा और नस्ल को एक-दूसरे का पर्याय समझने वाले विमर्श के प्रभुत्व को कई तरह से प्रश्नांकित किया जाने लगा। लेकिन राष्ट्र, भाषा और नस्ल के बुनियादी अंतर्संबंधों का आग्रह इतना प्रबल था कि उन्नीसवीं ही नहीं, उसके बाद भी भाषाई समझ पर ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के ये आग्रह हावी बने रहे। रामविलास शर्मा के शब्दों में :

यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि ... भाषा-विज्ञान का इतना विकास होने पर भी उन्नीसवीं सदी की ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की मान्यताएँ ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित हैं। भाषा-विज्ञान चाहे ब्लूमफ़ील्ड-सम्प्रदाय का हो, चाहे चोम्स्की-सम्प्रदाय का, ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के नाम पर वह उन्हीं मान्यताओं को दोहराता है। ... ... एक इंडोयुरोपियन परिवार है। इस परिवार की प्राचीन और नवीन भाषाएँ एक आदि इंडोयुरोपियन भाषा से उत्पन्न हुई हैं। इस आदि भाषा की अनेक शाखाएँ हुईं। उनमें से एक शाखा से सम्बद्ध लोग भारत आये। ये भारतीय आर्य थे। आदि युरोपियन भाषा कहाँ बोली जाती थी, इसका पता नहीं, पर वह भारत में न बोली जाती थी। भारत में आने पर आर्य विजेताओं ने यहाँ के मूल निवासियों को उनकी भूमि से या तो हटा दिया या उन्हें परास्त करके दासों की तरह जीवन बिताने पर बाध्य किया। भारतीय आर्य भाषा से क्रमशः प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हुआ। इसी विकास अथवा ह्रास का परिणाम है आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। उन्नीसवीं सदी के ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की ये मान्यताएँ अपनी जगह स्थिर हैं, अचल हैं।[85]

इस कथन में जिस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया गया है, उसका कारण वही प्रतीत होता है

---

[83] देखें, भगवान सिंह (2013), पूर्वोद्धृत : 148-149.

[84] देखें, आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आग्रह पर हिंदी का आज तक का सर्वाधिक प्रामाणिक व्याकरण *हिंदी शब्दानुशासन* लिखा. वे हिंदी के उन आचार्यों की परम्परा में आते हैं जिन्होंने लगातार इस बात पर ज़ोर दिया कि हिंदी संस्कृत की बेटी न हो कर एक स्वतंत्र भाषा है. अम्बा प्रसाद सुमन ने आचार्य वाजपेयी के अनूठे व्यक्तित्व के बारे में लिखा है : 'बालक वाजपेयी ने निर्धनता के झंझावात से पीड़ित होकर अपनी जीविका चलाने के लिए उतरीपुरा स्टेशन पर कचालू बेचे, अपनी बहिन की ससुराल लछिमनपुर गाँव में मेहनत-मज़दूरी भी की, गाय-भैंस भी चराई. अपने गाँव राम नगर में खेत निराए ... तत्पश्चात कानपुर जाकर मकानों की पुताई करने वाले मज़दूरों के साथ काम किया और वृंदावन के मंदिरों में पूजा-पाठ से भी दिन काटे. राहगीरों को पानी भी पिलाया. संक्षेप में, ऐसे अन्य अनेक प्रकार के कठिन से कठिन, दुष्कर तथा अत्यधिक दयनीय कार्यों द्वारा दस वर्ष का बालक वाजपेयी अपने जीवन की अत्यंत दुरूह पर्वत श्रृंखलाएँ लाँघ पाया'. दलित बुद्धिजीवी डॉ. धर्मवीर ने आचार्य वाजपेयी के मानस का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनकी मनोभूमि कुछ उसी प्रकार की हो गयी थी जैसी इस देश में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से उपेक्षित और उत्पीड़ित शूद्रों और नारियों की हो रही है. देखें, डॉ. धर्मवीर (1998) : 273.

[85] भारतीय संदर्भ में की गयी इस आलोचना को और विस्तार से समझने के लिए देखें, रामविलास शर्मा (1960/2010), पूर्वोद्धृत : 21.

जिसका युरोपीय भाषाई वैचारिकी की चर्चा करते समय ज़िक्र किया गया है। दरअसल, इस विमर्श के प्रभाव में उपनिवेशकों ने उपनिवेशित समाजों को ही एकभाषा आधारित राष्ट्रवाद की ओर नहीं धकेला, बल्कि स्वयं उपनिवेशिकों के गृह देशों और समाजों पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक उपनिवेशिक देश अपने भीतर बहुभाषिता का तक़रीबन उन्मूलन करके एकभाषिता (राष्ट्र–भाषा) पर आधारित राष्ट्रीय समुदाय और राज्य की स्थापना कर चुके थे। नतीजतन, युरोप के भीतर एक–दूसरे से प्रतियोगिता करने वाली कई प्रबल प्रभु भाषाएँ उभर आयी थीं— पहले से जमी हुई स्पेनिश, फ्रेंच, जर्मन, डच और पुर्तगीज़ के साथ एक नयी प्रभु भाषा अंग्रेज़ी भी सामने आ गयी थी। उपनिवेशवाद के हाथ में इन छह युरोपीय भाषाओं ने साम्राज्यिक औज़ार की भूमिका निभायी। युरोप की ज़मीन पर इन भाषाओं ने आपस में प्रतियोगिता की, और अपने–अपने औपनिवेशिक साम्राज्यों में स्थानीय भाषाओं को उनकी स्वायत्तता से वंचित करके युरोपीय ज्ञानमीमांसा का तक़रीबन कभी न ख़त्म होने वाला वर्चस्व स्थापित किया।

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (2020), *हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति,* सीएसडीएस–वाणी, नयी दिल्ली.

आर.डब्ल्यू. सदर्न (1961) *मेकिंग ऑफ़ द मिडिल एजिज़,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन.

आलोक के. मुखर्जी (2009), *दिस गिफ़्ट ऑफ़ इंग्लिश : इंग्लिश एजुकेशन ऐंड द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ आल्टरनेटिव हेजेमॅनीज़ इन इंडिया,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

------------(2009), *द गिफ़्ट ऑफ़ इंग्लिश : इंग्लिश एजुकेशन ऐंड द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ आल्टरनेटिव हेजेमनीज़ इन इंडिया,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद.

ओम प्रकाश केजरीवाल (1988), *द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बेंगाल ऐंड द डिस्कवरी ऑफ़ इंडियाज़ पास्ट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

एंतन बौस्क्वे (2018), *अ (हि)स्टोरी ऑफ़ लेंग्वेज ऐंड बीइंग इन द बाइबिल : एन इंटरप्रिटेशन बेस्ड ऑन हाईडेगर ऐंड दुर्खाइम,* कोडिंग प्रेस, सैन फ्रांसिस्को.

एच.एच. राइज़ली (1903), *सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1901, खण्ड 1 : इंडिया, भाग 1 : द रिपोर्ट,* बंगाल सेक्रेटेरियट प्रेस, कलकत्ता.

एच.एच. विल्सन (1864), *एसेज़ : एनालैटिकल, क्रिटिकल ऐंड फ़िलॉसॉफ़िकल सब्जेक्ट्स कनेक्टिड विद संस्कृत लिटरेचर,* ट्रबनर, लंदन.

एलन डेविड (1996), 'सर विलियम जोंस, बिब्लिकल ओरिएंटलिज़म ऐंड इंडियन स्कॉलरशिप', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* खण्ड 30, अंक 1.

एस.आर. राव (1982), द डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ द इंडुस स्क्रिप्ट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे.

एस.एन. मुखर्जी (1968), *सर विलियम जोंस : अ स्टडी इन एटींथ सेंचुरी ब्रिटिश एटीट्यूड टू इंडिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

उदय शंकर (2020), 'भारतीय भाषा परिवार, हिंदी और उत्तर–औपनिवेशिकता', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* अंक 14, वर्ष 7.

क्रिस्तॉफ़ जैफ़्रेलो (1999), *द हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट ऐंड इंडियन पॉलिटिक्स,* पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

गैब्रियाला ए. वर्नोनेली (2015), 'कोलोनियलिटी ऑफ़ लेंग्वेज : रेस, एक्सप्रेसिविटी, पॉवर, ऐंड द डार्कर साइड ऑफ़ मॉडर्निटी', वागाडू, खण्ड 13.

गौरी विश्वनाथन (1989), *मास्क्स ऑफ़ कांक्वेस्ट : लिटरेरी स्टडी ऐंड ब्रिटिश रूल इन इंडिया,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयार्क.

चार्ल्स डार्विन (1859), *ऑन द ओरिजिन ऑफ़ स्पेशीज़,* हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

जार्ज डब्ल्यू. स्टोकिंग (1987), *विक्टोरियन एंथ्रोपोलॅजी,* द फ्री प्रेस, न्युयार्क.

जिम शेफ़र (1984), 'द इंडो आर्यन इन्वेज़न : कल्चरल मिथ ऐंड आर्कियालॅजीकल रियलिटी', जॉन आर. लुकास (सं.), *द पीपुल ऑफ़ साउथ इंडिया,* प्लेनम प्रेस, न्युयार्क.

जियाउद्दीन सरदार, आशिस नंदी, मेरिल विन डेवीज़ और क्लॉड अलवारिस (1993), *द ब्लाइंडिड आई : 500 इयर्स ऑफ़ क्रिस्टोफ़र कोलम्बस,* द अदर इंडिया प्रेस, गोवा और द अपेक्स प्रेस, न्युयार्क.

जूली टेटेल ऐंडरसन और फ़िलिप एम. कार्टर (2006), *लेंग्वेजिज़ इन द वर्ल्ड : हाउ हिस्ट्री, कल्चर ऐंड पॉलिटिक्स शेप लेंग्वेज,* विली ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

जेम्स मेक्एल्विनी (2018), 'ऑगस्त श्लीख़र ऐंड मैटीरियलिज़ इन 19थ सेंचुरी', *हिस्टीरियोग्राफ़िया लिंगुइस्टिका,* खण्ड 45, अंक 1.

जोसेफ़ एरिंगटन (2008), *लिंगुइस्टिक्स इन कोलोनियल वर्ल्ड : अ स्टोरी ऑफ़ लेंग्वेज, मीनिंग,* ऐंड पॉवर, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, ऑक्सफ़र्ड, यूके.

ज्योत्सना एस. सिंह (1996), *कोलोनियल नैरेटिव्ज़ / कल्चरल डायलॉग्ज़ : 'डिस्कवरीज़' ऑफ़ इंडिया इन द लेंग्वेज ऑफ़ कोलोनियलिज़म,* रौटलेज, लंदन.

टोनी बैलेंटाइन (2002), *ओरिएंटलिज़म ऐंड रेस : आर्यनिज़म इन द ब्रिटिश इम्पायर,* पालग्रेव मैक्मिलन, लंदन.

टोनी क्राउली (2003), *स्टेंडर्ड इंग्लिश ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ लेंग्वेज,* पालग्रेव मैक्मिलन, न्युयार्क.

डॉ. धर्मवीर (1998), *हिंदी की आत्मा, समता,* नयी दिल्ली.

तेजस्विनी निरंजना (1990), 'ट्रांसलेशन, कोलोनियलिज़म ऐंड राइज़ ऑफ़ इंग्लिश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 25, अंक 15.

थामस आर. ट्राउटमान (1997), *आर्यंस ऐंड ब्रिटिश इंडिया, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, न्युयार्क : दूसरा अध्याय* 'द मोज़ेक एथ्नॉलॅजी ऑफ़ एशियाटिक जोंस'.

-------------(2006), *लेंग्वेज एंड नेशंस : कन्वर्ज़ेशंस इन कोलोनियल साउथ इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

निता वान डर बॉस, 'ऑगस्तींज़ एटीट्यूड टुवड्र्स अदर रिलीजस ग्रुप्ज़ : फ़्रॉम टॉलरेशन टू कोअर्शन' file:///C:/Users/Dell%20pc/Downloads/Augustines_attitude_towards_other_religi%20(1).pdf, 2 नवम्बर, 2019 को देखा गया.

पद्मनाभन समरेंद्र (2011), 'सेंसस इन कोलोनिल इण्डिया ऐंड द बर्थ ऑफ़ कास्ट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 33.

पार्थ चटर्जी (1998), 'फ़ाइव हंड्रेड इयर्स ऑफ़ फ़ियर ऐंड लव', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 22.

फ्रेड्रिक टर्नर (1980), *बियांड जियोग्राफ़ी : द वेस्टर्न स्पिरिट अगेंस्ट वाइल्डरनेस,* द वाइकिंग प्रेस, न्युयार्क.

बर्नार्ड एस. कॉन (1996), 'द कमांड ऑफ़ लेंग्वेज ऐंड द लेंग्वेज ऑफ़ कमांड', *कोलोनियलिज़म ऐंड इट्स फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज : द ब्रिटिश इन इंडिया,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (सं.) (2002), *द ऑक्सफ़र्ड इंडिया कोसम्बी : कम्बाइंड मेथड्स इन इंडोलॅजी ऐंड अदर राइटिंग्ज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

भगवान सिंह (2013), *आर्य-द्रविड़ भाषाओं का अंतर्संबंध,* सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.

माइकिल एस. डॉडसन (2010), 'कंटेस्टिंग ट्रांसलेशंस : ओरिएंटलिज़म ऐंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ द वेदाज़', श्रुति कपिला (सं.), *एन इंटलेक्चुअल हिस्ट्री फ़ॉर इंडिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

माधव देशपाण्डे ((1993), *संस्कृत ऐंड प्राकृत : सोसियोलिंगुइस्टिक इशूज़,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

मैक्स मुलर (1854), सजेशंस फ़ार द असिस्टेंस ऑफ़ ऑफ़िसर्स इन लर्निंग द लेंग्वेजेज़ ऑफ़ द सीट ऑफ़ वार इन द ईस्ट, लोंगमैन, ब्राउन ग्रीन, ऐंड लोंगमैंस, लंदन. https://archive.org/details/ cu31924 0264485 42/page/n4 पर उपलब्ध.

------- (1854), *सजेशंस फ़ार द असिस्टेंस ऑफ़ ऑफ़िसर्स इन लर्निंग द लेंग्वेजेज़ ऑफ़ द सीट ऑफ़ वार इन द ईस्ट,* लोंगमैन, ब्राउन, ग्रीन, ऐंड लोंगमैंस, लंदन. https://archive.org/details/cu31924026448542/ page/n4 पर उपलब्ध.

-------(1854), 'लास्ट रिज़ल्ट्स ऑफ़ द रिसर्चेज़ रिस्पेक्टिंग द नॉन-ईरानियन ऐंड नॉन-सेमेटिक लेंग्वेजिज़ ऑफ़

एशिया ऐंड युरोप, ऑर द तूरानियन फ़ेमिली ऑफ़ लेंग्वेजिज़', क्रिश्चियन बुन्सेन, *आउटलाइन ऑफ़ द फ़िलॉसॅफ़ी ऑफ़ युनिवर्सल हिस्ट्री,* एप्लायड टू लेंग्वेज ऐंड हिस्ट्री, दो खण्ड, लोंगमैन, ब्राउन, ग्रीन, ऐंड लोंगमैंस, लंदन.

रणजीत गुहा (1988), *एन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी ऑफ़ इंडिया : अ नाइंटीथ सेंचुरी एजेंडा ऐंड इट्स इम्प्लीकेशंस,* के.पी. बागची ऐंड कम्पनी, कलकत्ता और नयी दिल्ली.

रणजीत गुहा (2002), 'सर विलियम जोंस', *द स्माल वॉयस ऑफ़ हिस्ट्री : क्लेक्टिड एसेज़,* पार्थ चटर्जी (सं.), परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

राधावल्लभ त्रिपाठी (2014), 'अथ मोक्षमूलरकथा', *नया ज्ञानोदय,* दिसम्बर.

रेमंड श्वाब (1984), *द ओरिएंटल रिनाँसा : युरोप्ज़ रिडिस्कवरी ऑफ़ इंडिया ऐंड ईस्ट,* 1680-1880, अनु. ज्याँ पैटर्सन-ब्लैक और विक्टर रीनकिंग, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयार्क.

रेवती कृष्णास्वामी (2005), 'नाइंटींथ सेंचुरी लेंग्वेज आइडियोलॅजी : अ पोस्टकोलोनियल पर्सपेक्टिव', *इंटरवेंशंस, खण्ड 7, अंक 1.*

रोज़ाने रोशर और लुडो रोशर (1993), *द मेकिंग ऑफ़ वेस्टर्न इंडोलॅजी : हेनरी थॉमस कोलब्रुक ऐंड द ईस्ट इंडिया कम्पनी,* रौटलेज, न्युयार्क.

विल स्वीटमैन (2016), 'द द्रविड़ियन आइडिया इन मिशनरी एकाउंट्स ऑफ़ साउथ इंडियन रिलीजन', शेखर बंद्योपाध्याय और आलोका पाराशर सेन (सं.), *रिलीजन ऐंड मॉडर्निटी इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

वी.ए. स्मिथ (1919), *द ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, फ़्रॉम द अर्लिएस्ट टाइम्स टू द ऐंड ऑफ़ 1911,* क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

वेंडल वी. हैरिस (1986), 'एडम नेमिंग द एनिमल्स : लेंग्वेज, कांटेक्स्ट्स, ऐंड मीनिंग', *द केन्यन रिव्यू,* खण्ड 8, अंक 1 (नयी शृंखला). हेनरी कोहेन (2013), 'हिस्टोरिकल, डार्विनियन, ऐंड करेंट पर्सपेक्टिव्ज़ ऑन द ओरिजिं(स) ऑफ़ लेंग्वेज', क्लेयर लेफ़ेब्र, बरनार्ड कोमरी और हेनरी कोहेन (सं.), *न्यू पर्सपेक्टिव्ज़ ऑन द ओरिजिंस ऑफ़ लेंग्वेज,* जॉन बेंजामिल पब्लिशिंग कम्पनी, फ़िलाडेल्फ़िया.

शेल्डन पोलोक (1993), 'डीप ओरिएंटलिज़म? नोट्स ऑन संस्कृत ऐंड पॉवर बियांड द राज', कैरॅल अप्पादुरै ब्रैकनरिज और पीटर वान डर वीर (सं.), *ओरिएंटलिज़म ऐंड द पोस्टकोलनियल प्रेडिकामेंट : पर्सपेक्टिव ऑन साउथ एशिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ पेंसिलवानिया प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

श्रीकांत जी. तालागेरी (1993), *द आर्यन इन्वेज़न थियरी : अ रिअप्रेज़ल,* आदित्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

संजय सेठ (2008), *सब्जेक्ट लेसंस : द वेस्टर्न एजुकेशन ऑफ़ कोलोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली में उद्धृत.

सर विलियम जोंस (1792/1996), 'ऑन द ओरिजन ऐंड फ़ेमिलीज़ ऑफ़ नेशंस', हान्ना फ्रांज़िस्का ऑगस्तीन (सं.), *रेस : द ओरिजिन ऑफ़ एन आइडिया,* 1760-1850, थॉमस प्रेस, ब्रिस्टल.

सर विलियम जोंस (1824), *डिस्कोर्सिज़ डिलीवर्ड बिफ़ोर एशियाटिक सोसाइटी : द मिसलेनियस पेपर्स,* ऑन द *रिलीजन, पोइट्री, लिटरेचर, एक्स्ट्रा, ऑफ़* द *नेशंस ऑफ़ इंडिया,* सी.एस. अर्नाल्ड, लंदन, https://archive.org/details/discoursesdeliv00j onegoog/page/n9/mode/2up पर उपलब्ध.

सिल्वाइन ऑरोक्स (2013), 'द ओरिजिन ऑफ़ लेंग्वेज एज़ सीन बाइ एटींथ-सेंचुरी फ़िलॉसॅफ़ी', क्लेयर लेफ़ेब्रे, बरनार्ड कोमरी और हेनरी कोहेन (सं.), *न्यू पर्सपेक्टिव्ज़ ऑन द ओरिजिंस ऑफ़ लेंग्वेज,* जॉन बेंजामिन पब्लिशिंग कम्पनी, फ़िलाडेल्फ़िया.

सी.एन. सुब्रह्मण्यम, 'डी.डी. कोसम्बी ऐंड द एम्बीगुअस ट्रांज़ीशंस फ़्रॉम इंडोलॅजी', देखें, https://www.revolutionarydemocracy. org/rdv13n2/ kosambi.htm.

सुनीति कुमार चटर्जी (1942), *इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी : एट लेक्चर्स,* गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, अहमदाबाद.

सुनीति कुमार चटर्जी (1968), *बाल्ट्स ऐंड आर्यंस इन देयर इंडोयुरोपियन बैकग्राउंड,* आईआईएएस, शिमला.

हांस आर्सलेफ़ (1967), *द स्टडी ऑफ़ लेंग्वेज इन इंग्लैंड, 1780-1860,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन, एन.जे.

हर बिलास शारदा (1946) *लाइफ़ ऑफ़ दयानंद सरस्वती,* और *हिंदू सुपीरियोरिटी* (1906).

हारुको मोमा (1999), 'अ मैन ऑन द कस्प : सर विलियम जोंसिज़ 'फ़िलोलॅजी' ऐंड 'ओरिएंटल स्टडीज़', *टेक्सास स्टडीज़ इन लिटरेचर ऐंड लेंग्वेज,* खण्ड 41, अंक 2.

सामयिक विमर्श

हिंदू-एकता बनाम ज्ञान की राजनीति

अभय कुमार दुबे